जुलाई-सितम्बर, 2013 [संयुक्तांक]

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

प्रधान संपादक
अनूप कुमार वार्ष्णेय

संपादक
जुगल किशोर

महत्वपूर्ण निर्णय

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302 और 304 भाग II – हत्या – हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध – मृतका पर हमला पूर्व-चिंतन के बिना किया गया और हमले में केवल दो क्षतियां कारित हुईं तथा तेज धार वाले हथियार का प्रयोग नहीं किया गया, ऐसी स्थिति में अपीलार्थी को धारा 302 के बजाय धारा 304 भाग II के अधीन ही दोषी ठहराना उचित होगा ।

इलावरसान बनाम राज्य जिसका प्रतिनिधित्व पुलिस निरीक्षक द्वारा किया गया 1

पृष्ठ संख्या 1 – 199

[2013] 3 उम. नि. प.

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका – जुलाई-सितम्बर, 2013 [संगुक्तांक] [पृष्ठ संख्या 1 – 199]

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

जुलाई-सितम्बर, 2013

निर्णय-सूची

	पृष्ठ संख्या
आचार्य सुदेवानन्द अवधूत बनाम केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो, महानिदेशक के माध्यम से (देखिए – पृष्ठ संख्या 28) इलावरसान बनाम राज्य जिसका प्रतिनिधित्व पुलिस निरीक्षक द्वारा किया गया	1
पूर्णा अगितोक संगमा बनाम प्रणब मुखर्जी	107
बूसी कोटेश्वर राव बनाम आंध्र प्रदेश राज्य	96
भिमन्ना बनाम कर्नाटक राज्य	58
रंजन द्विवेदी बनाम केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो, महानिदेशक के माध्यम से	28
सैयद मोहम्मद अहमद काज़मी बनाम राज्य, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार और अन्य	80

लेख

क्या आपराधिक मामलों में निजी अधिवक्ता पीड़ित व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कर सकता है ? : विधिक बिन्दुओं का अवलोकन	(1) – (5)
--	-----------

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)

– धारा 167(2) [विधिविरुद्ध क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 की धारा 43घ द्वारा यथासंशोधित] – कानूनी जमानत का अधिकार – कानूनी जमानत प्राप्त करने का अधिकार आरोप पत्र फाइल कर दिए जाने पर केवल तभी निर्वापित हो जाता है यदि आरोप पत्र कानूनी जमानत संबंधी आवेदन फाइल करने से पूर्व फाइल कर दिया जाता है चूंकि कानूनी जमानत प्रदान करने के लिए फाइल किए गए आवेदन के लंबित रहने के दौरान आरोप पत्र फाइल करने से कानूनी जमानत प्राप्त करने संबंधी अभियुक्त का अधिकार प्रभावित नहीं होता है ।

**सैयद मोहम्मद अहमद काज़मी बनाम राज्य,
राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार और अन्य**

80

– धारा 222, 125 से 217, 385, 386, 464 और 465 – आरोप विरचित करने में त्रुटि या लोप – यदि छोटे अपराध के लिए आरोप विरचित नहीं किया गया है और आरोपित अपराध में समाविष्ट छोटा अपराध साबित कर दिया गया है तब छोटे अपराध के लिए दंडित किया जा सकता है ।

भिमन्ना बनाम कर्नाटक राज्य

58

– धारा 378 और दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302 सपठित धारा 34 – दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील – मृतक पर अभियुक्त द्वारा प्राणघातक हमला किए जाने का अभिकथन – केवल एक अभियुक्त द्वारा प्राणघातक क्षति कारित किया जाना – अन्य दो अभियुक्तों द्वारा रक्तमय क्षति कारित किया जाना – सामान्य आशय का साबित न किया जाना – प्राणघातक क्षति कारित न करने वाले अभियुक्तों को हत्या

के आरोप से दोषमुक्त किया जाना – अपील – सामान्य आशय न होने के संबंध में विचारण न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष को उलटे बिना अपील न्यायालय द्वारा इन अभियुक्तों को हत्या का दोषी ठहराना अनुचित है ।

भिमन्ना बनाम कर्नाटक राज्य

58

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45)

– धारा 84 – पत्नी, माता और बच्चे पर अपीलार्थी द्वारा अकारण हमला किया जाना – अपीलार्थी का घटनास्थल से अपराध कारित किए जाने के पश्चात् न भागना – अपीलार्थी शराब का आदी था और वह शराब के नशे में अपने मकान की दीवारों पर कोई भी संदेश या विनती लिख सकता था और उसने अपनी पत्नी, माता और बच्ची पर हमला किया तथा अपराध के पश्चात् घटनास्थल से नहीं भागा, इन तथ्यों से अपीलार्थी की उन्मत्तता साबित नहीं होती है और उसे दंड संहिता की धारा 84 का लाभ नहीं दिया जा सकता ।

इलावरसान बनाम राज्य जिसका प्रतिनिधित्व पुलिस निरीक्षक द्वारा किया गया

1

– धारा 148, 149 और 436 – गुटबंदी – झगड़ा – हिंसा – विचारण – न्यायालय का संतुलित दृष्टिकोण – ऐसे मामलों में जिनमें अभियुक्तों की संख्या अधिक होती है, न्यायालय द्वारा संतुलित दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए और ऐसे साक्षियों के परिसाक्ष्यों का अवलंब लेने के लिए सावधानी बरतनी चाहिए जो अभियुक्तों द्वारा किए गए विशेष कृत्य का उल्लेख किए बिना साक्ष्य देते हैं ।

बूसी कोटेश्वर राव बनाम आंध्र प्रदेश राज्य

96

– धारा 148, 149 और 436 – कई अपराधियों द्वारा अपराध – बड़ी संख्या में लोगों का आहत होना – साक्ष्य द्वारा समर्थन – जब न्यायालय को ऐसे किसी अपराध के कारित किए जाने से संबंधित साक्ष्य पर विचार करना होता है जो अपराधियों की एक बड़ी संख्या द्वारा किया गया हो और अपराध में आहतों की संख्या भी अधिक हो, तो दोषसिद्धि केवल तब की जा सकती है जब उसका समर्थन दो या दो से अधिक ऐसे साक्षियों द्वारा किया जाए जिन्होंने प्रश्नगत घटना के संबंध में साक्ष्य दिया है ।

बूसी कोटेश्वर राव बनाम आंध्र प्रदेश राज्य

96

– धारा 302 और 304 भाग I – हत्या – आशय – अभियुक्त द्वारा मृतक पर प्राणघातक हमला किए जाने का अभिकथन – अचानक झगड़ा होने से घटना घटित होना क्योंकि अभियुक्त ने मृतक की भूमि में अतिचार किया था – मृतक के नीचे गिर जाने पर अभियुक्तों का हमला करने से रुक जाना और इसके पश्चात् सभी अभियुक्तों का वहां से चले जाना – अभियुक्तों के आचरण से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि उनका आशय मृतक की हत्या करने का नहीं था और चूंकि घटना पूर्व-चिंतन करके घटित नहीं हुई है इसलिए अभियुक्तों को केवल धारा 304 भाग I के अधीन ही दोषसिद्ध किया जा सकता है ।

भिमन्ना बनाम कर्नाटक राज्य

58

– धारा 302 और 304 भाग II – हत्या – हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध – मृतका पर हमला पूर्व चिंतन के बिना किया गया और हमले में केवल दो क्षतियां कारित हुईं तथा तेज धार वाले हथियार का प्रयोग नहीं किया गया, ऐसी स्थिति में अपीलार्थी को धारा 302 के बजाय धारा 304 भाग II के

अधीन ही दोषी ठहराना उचित होगा ।

**इलावरसान बनाम राज्य जिसका प्रतिनिधित्व
पुलिस निरीक्षक द्वारा किया गया**

1

संविधान, 1950

– अनुच्छेद 21 [सपठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) की धारा 482] – विलंब के आधार पर दांडिक विचारण अभिखंडित करना – किसी दांडिक विचारण को एकमात्र विलंब के आधार पर अभिखंडित करना अनुज्ञेय नहीं है ।

**रंजन द्विवेदी बनाम केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो,
महानिदेशक के माध्यम से**

28

– अनुच्छेद 21 – शीघ्र विचारण का अधिकार – शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिलंघन करने वाले विलंब के प्रकार का अवधारण – शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिलंघन करने वाले प्रत्येक मामले में विलंब की मात्रा अपने आप में निश्चायक नहीं होती है ।

**रंजन द्विवेदी बनाम केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो,
महानिदेशक के माध्यम से**

28

– अनुच्छेद 21, 32 और 142 – शीघ्र विचारण – दांडिक विचारण पूरा करने के लिए समय सीमा नियत करना – दांडिक विचारण में कार्यवाहियों को समाप्त करने के लिए समय सीमा विहित करना विधान बनाने की कोटि में आएगा जो कि न्यायिक दृष्टि से अनुज्ञेय नहीं है ।

**रंजन द्विवेदी बनाम केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो,
महानिदेशक के माध्यम से**

28

– अनुच्छेद 58 और अनुच्छेद 102 [सपठित संसद् में मान्यताप्राप्त दलों तथा समूहों के नेता और मुख्य सचेतक

(प्रसुविधाएं) अधिनियम, 1998 की धारा 1] – राष्ट्रपतीय निर्वाचन – सदन के नेता और दल के नेता के पद – निर्वाचन संबंधी निरर्हता – चूंकि सदन के नेता या संसद् में दल के नेता को उस वेतन और परिलब्धियों के अलावा कोई पारिश्रमिक संदत्त नहीं किया जाता है, जो ऐसे धारक को तब संदेय होती है जब वह केन्द्रीय सरकार के मंत्री का पद धारण करता है इसलिए इन पदों के धारक राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने के लिए निरर्हित नहीं होते हैं तथा केन्द्रीय/राज्य सरकारों के मंत्रियों के बारे में यह नहीं समझा जाता है कि वे अनुच्छेद 58(2) और अनुच्छेद 102(1) के अधीन निरर्हता के प्रयोजनार्थ लाभ का कोई पद धारण किए हुए हैं।

पूर्ण अगितोक संगमा बनाम प्रणब मुखर्जी

107

– अनुच्छेद 58, 102 और 191 – राष्ट्रपतीय निर्वाचन – लाभ का पद धारण करने के आधार पर अनुच्छेद 58(2) के अधीन निरर्हता – किसी पद को लाभ के पद के रूप में प्रवर्गीकृत करना मात्र पर्याप्त नहीं होगा क्योंकि किसी पद को लाभ का पद केवल तभी समझा जाना चाहिए जब उस पद के साथ विभिन्न धनीय फायदे जुड़े हों या वह पद धनीय फायदे पहुंचाने में समर्थ हो।

पूर्ण अगितोक संगमा बनाम प्रणब मुखर्जी

107

– अनुच्छेद 58, 145 और 71 [सपठित संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 की धारा 3 और उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के नियम 13 और 20] – राष्ट्रपतीय निर्वाचन – निरर्हता – लाभ का पद – चूंकि भारतीय सांख्यिकी संस्थान के अध्यक्ष का पद लाभ का पद नहीं है और उसे 1959 के अधिनियम द्वारा

(vii)

पृष्ठ संख्या

भी लाभ के पद के आधार पर निरर्हता की परिधि से अपवर्जित किया गया है, इसलिए राष्ट्रपति के निर्वाचन को इस आधार पर चुनौती देने वाली अर्जी नियमित सुनवाई किए जाने योग्य नहीं है कि नामनिर्देशन पत्र फाइल करने के समय वह उस पद को धारण किए हुए था ।

पूर्णो अगितोक संगमा बनाम प्रणब मुखर्जी

107

संपादक-मंडल

श्री प्रेम कुमार मल्होत्रा, सचिव, विधायी विभाग	डा. ऋषि पाल सिंह, सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव, राजभाषा खंड
श्री एन. एल. मीना, अपर सचिव (प्रशा.), विधायी विभाग	श्री लालजी प्रसाद, सेवानिवृत्त प्रधान संपादक, वि.सा.प्र.
श्रीमती शारदा जैन, संयुक्त सचिव एवं विधायी परामर्शी, विधायी विभाग	श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल, सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.
डा. बी. एन. मणि, अधिवक्ता, (पूर्व संपादक) वि.सा.प्र.	श्री अनूप कुमार वार्ष्णेय, प्रधान संपादक
डा. प्रीती सक्सेना, प्रोफेसर, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, लखनऊ	श्री महमूद अली खां, संपादक
डा. वैभव गोयल, संकायाध्यक्ष विधि संकाय, स्वामी विवेकानन्द सुभारती विश्वविद्यालय, मेरठ	श्री जुगल किशोर, संपादक
श्री सुरेन्द्र शर्मा, प्रिन्सिपल, विधि विभाग, गुरु गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय, दिल्ली	डा. मिथिलेश चन्द्र पाण्डेय, संपादक

सहायक संपादक	: सर्वश्री विनोद कुमार आर्य, कमला कान्त, अविनाश शुक्ल और असलम खान
उप-संपादक	: सर्वश्री दयाल चन्द ग़ोवर, एम. पी. सिंह, जसवन्त सिंह और बी. के. भटनागर

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 57

वार्षिक : ₹ 225

© 2013 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

प्रकाशन और विक्रय प्रबंधक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय (विधायी विभाग),
भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा..... द्वारा मुद्रित ।

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है। उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिकाओं में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः चयनित सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है। इन पत्रिकाओं को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें जनवरी, 2010 के अंक से महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिनियमों का प्राधिकृत हिन्दी पाठ को पाठकों की सुविधा के लिए श्रृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। तीनों निर्णय पत्रिकाओं की वार्षिक कीमत केवल ₹ 495/- है। उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 225/- है, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 135/- है और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की वार्षिक कीमत ₹ 135/- है। तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105

**विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित और विक्रय के लिए उपलब्ध विधि
पाठ्य पुस्तकों की
सूची**

	पुस्तक का नाम	लेखक	पृष्ठ सं.	कीमत (₹)
1.	भारत का विधिक इतिहास	श्री सुरेन्द्र मधुकर	410	30.00
2.	माल विक्रय और परक्राम्य लिखत विधि	डा. एन. पी. परांजपे	371	40.00
3.	वाणिज्य विधि	डा. आर. एल. भट्ट	630	108.00
4.	अपकृत्य विधि के सिद्धान्त (तृतीय संस्करण)	श्री शर्मन लाल अग्रवाल	357	40.00
5.	अंतर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय (द्वितीय संस्करण)	डा. एस. सी. खरे	273	115.00
6.	मानव अधिकार	डा. शिवदत्त शर्मा	340	120.00
7.	दण्ड प्रक्रिया संहिता	न्या. महावीर सिंह	840	200.00

पुस्तकों की सूची जिन पर छूट देने की स्वीकृति प्राप्त की गई है ।

	पुस्तक का नाम	लेखक	पृष्ठ सं.	मूल दर (₹)	संशोधित दर (₹)
1.	संविदा विधि (द्वितीय संस्करण)	डा. रामगोपाल चतुर्वेदी	552	275.00	137.00
2.	श्रम विधि (तृतीय संस्करण)	श्री गोपी कृष्ण अरोड़ा	658	452.00	226.00
3.	चिकित्सा न्यायशास्त्र और विष विज्ञान (तृतीय संस्करण)	डा. सी. के. पारिख अनुवादक डा. एन. के. पटौरिया	969	293.00	146.00
4.	आधुनिक पारिवारिक विधि	श्री राम शरण माथुर	767	429.00	214.00
5.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय)	संकलन संपादन - ब्रह्मदेव चौबे	209	225.00	112.00
6.	हिन्दू विधि (द्वितीय संस्करण)	डा. रवीन्द्र नाथ	617	425.00	212.00
7.	भारतीय दंड संहिता	डा. रवीन्द्र नाथ	696	741.00	370.00
8.	भारतीय भागीदारी अधिनियम (द्वितीय संस्करण)	श्री माधव प्रसाद वाशिष्ठ	272	165.00	82.00
9.	प्रशासनिक विधि (तृतीय संस्करण)	डा. कैलाश चन्द्र जोशी	635	200.00	100.00
10.	विधिक उपचार (द्वितीय संस्करण)	डा. एस. के. कपूर	414	311.00	155.00
11.	विधि शास्त्र	डा. शिवदत्त शर्मा	501	580.00	377.00

**विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001**

तुलनात्मक सारणी
उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका
[2013] 3 उम. नि. प.
जुलाई - सितम्बर, 2013

क्र. सं.	निर्णय का नाम व तारीख	उम. नि. प.	ए. आई. आर. (एस. सी.)	एस. सी. सी.
1	2	3	4	5
1.	इलावरसान बनाम राज्य जिसका प्रतिनिधित्व पुलिस निरीक्षक द्वारा किया गया (5 जुलाई, 2011)	[2013] 3	1 2011 2816	(2011) 7 110
2.	रंजन द्विवेदी बनाम केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो, महानिदेशक के माध्यम से (17 अगस्त, 2012)		28 2012 3217	(2012) 8 495
3.	भिमन्ना बनाम कर्नाटक राज्य (4 सितम्बर, 2012)		58 3026	9 650
4.	सैयद मोहम्मद अहमद काज़मी बनाम राज्य, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार और अन्य (19 अक्टूबर, 2012)		80	—
5.	बूसी कोटेश्वर राव बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य (22 नवम्बर, 2012)		96	—
6.	पूर्णा अगितोक संगमा बनाम प्रणब मुखर्जी (5 दिसम्बर/11 दिसम्बर, 2012)		107	—

[2013] 3 उम. नि. प. 1

इलावरसान

बनाम

राज्य जिसका प्रतिनिधित्व पुलिस निरीक्षक द्वारा किया गया

5 जुलाई, 2011

न्यायमूर्ति वी. एस. सिरपुरकर और न्यायमूर्ति टी. एस. ठाकुर

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 84 – पत्नी, माता और बच्चे पर अपीलार्थी द्वारा अकारण हमला किया जाना – अपीलार्थी का घटनास्थल से अपराध कारित किए जाने के पश्चात् न भागना – अपीलार्थी शराब का आदी था और वह शराब के नशे में अपने मकान की दीवारों पर कोई भी संदेश या विनती लिख सकता था और उसने अपनी पत्नी, माता और बच्ची पर हमला किया तथा अपराध के पश्चात् घटनास्थल से नहीं भागा, इन तथ्यों से अपीलार्थी की उन्मत्तता साबित नहीं होती है और उसे दंड संहिता की धारा 84 का लाभ नहीं दिया जा सकता ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302 और 304 भाग II – हत्या – हत्या की कोटि में न आने वाला आपराधिक मानव वध – मृतका पर हमला पूर्व-चिंतन के बिना किया गया और हमले में केवल दो क्षतियां कारित हुईं तथा तेज धार वाले हथियार का प्रयोग नहीं किया गया, ऐसी स्थिति में अपीलार्थी को धारा 302 के बजाय धारा 304 भाग II के अधीन ही दोषी ठहराना उचित होगा ।

यह अपील मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए उस निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत द्वारा प्रस्तुत की गई है जिसके द्वारा 2003 की दांडिक अपील सं. 1215 खारिज की गई है और भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 302, 307 और 342 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए अपीलार्थी की दोषसिद्धि और अधिनिर्णीत दंडादेश कायम रखे गए हैं । अपीलार्थी यदवाल गली, पूवम कोटिचेरी, जिला कराइकल, तमिलनाडु स्थित मकान में निवास करता था । अपीलार्थी की पत्नी, उसकी पुत्री के अतिरिक्त उसकी माता भी उसके साथ रहती थी । यह अभिकथन किया

गया है कि दुर्घटना वाले दिन में अर्थात् तारीख 11-12 दिसंबर, 2000 की मध्य रात्रि में लगभग 1 बजे अपराहन में अपीलार्थी अपनी पत्नी के साथ झगड़ा करने लगा कि जब से उसके साथ उसका विवाह हुआ है वह उसके लिए अशुभ है। ऐसा अभियोग करने के तत्काल प्रकोपन का कारण यह था कि वह अपनी माता की संपत्ति को बेचने में असफल रहा था क्योंकि इस संपत्ति से संबंधित राजस्व की प्रविष्टियां कन्नन के नाम में थीं जो कि अपीलार्थी का मामा है और ऐसा प्रतीत हुआ कि उसका मामा संपत्ति को बेचने के लिए सहमत नहीं है। पति और पत्नी के बीच हुए झगड़े ने और बुरा रूप ले लिया और अपीलार्थी ने अपनी पत्नी धनलक्ष्मी पर जानलेवा हमला किया जिसके परिणामस्वरूप उसके सिर, बाएं हाथ, दाएं गाल सहित शरीर के अन्य भागों पर अनेक क्षतियां कारित हुईं। वल्ली (अभि. सा. 3) जो कोई और नहीं अपितु अपीलार्थी की माता है, ने अपीलार्थी को उसकी पत्नी पर हमला किए जाने से नहीं रोका। इस घटना के दौरान माता को भी क्षतियां पहुंचीं। झगड़ा होने और दोनों महिलाओं पर हमला किए जाने पर जो चीख-पुकार हुई उससे अबीरामी जाग गई जो बराबर वाले कमरे में सोयी हुई थी और वह रोने लगी। इस प्रक्रम पर अपीलार्थी, जैसाकि अभिकथन किया गया है, कमरे में गया और उसने मृतका पर वार किया जिसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो गई। अन्वेषण पूरा किए जाने पर, पुलिस ने अपीलार्थी के विरुद्ध दंड संहिता की धारा 342, 307 और 302 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए आरोप पत्र फाइल किया। अपीलार्थी को सेशन न्यायालय, कराइकल के सुपुर्द कर दिया गया जहां पर अपीलार्थी ने दोषी न होने का अभिवाक् किया और विचारण किए जाने की मांग की। विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी को उस पर लगाए गए आरोपों का दोषी पाया। विचारण न्यायालय के निर्णय और आदेश से व्यथित होकर, अपीलार्थी ने मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की और उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्षों की पुष्टि करते हुए अपील खारिज कर दी। उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपीलार्थी ने उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की। न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – यह प्रश्न कि क्या अपीलार्थी दंड संहिता की धारा 84 का लाभ पाने का हकदार है या नहीं जिसके अंतर्गत यह उपबंध किया गया है कि कोई बात अपराध नहीं है, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा की जाती है, जो उसे करते समय चित्त विकृति के कारण उस कार्य की प्रकृति, या यह कि जो कुछ वह कर रहा है वह दोषपूर्ण या विधि के प्रतिकूल है, जानने में असमर्थ

है। अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य पर विचार करने से पूर्व जहां तक उन्मत्तता के आधार पर अपीलार्थी द्वारा अभिवाक् किए जाने का संबंध है हम उन पहलुओं पर विचार करना आवश्यक समझते हैं जो ऐसे मामलों के साथ सुसंगत हैं जिनमें उन्मत्तता का अभिवाक् किसी अपराध के अभियुक्त द्वारा अपनी प्रतिरक्षा में किया गया है। प्रथम पहलू ऐसी परिस्थिति की विद्यमानता को साबित करने के भार से संबंधित है जिसके अंतर्गत मामला दंड संहिता की धारा 84 की परिधि के भीतर आ जाता है। यह सत्य है कि किसी अपराध के कारित किए जाने को साबित करने का भार सदैव अभियोजन पक्ष पर होता है और यह भार कभी भी दूसरे पक्ष पर नहीं जाता है। यह प्रतिपादना भी उतनी ही सुस्थिर है कि यदि आशय अभियुक्त के विरुद्ध अभिकथित अपराध कारित करने का आवश्यक संघटक है तब अभियोजन को वह संघटक भी सिद्ध करना चाहिए। यह कहने से कोई लाभ नहीं है कि सामान्यतया किसी व्यक्ति का आशय या उसके मन की दशा का निष्कर्ष मामले की परिस्थितियों से निकाला जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति पर जानबूझकर हमला करता है और उसे कोई क्षति कारित करता है तब अपराध में प्रयोग किए गए हथियार और शरीर का वह भाग जिस पर वार किया गया है, के आधार पर यह उपधारित करना युक्तियुक्त होगा कि अभियुक्त का आशय उसी प्रकार की क्षति कारित करने का था जो उसने कारित की है। ऐसा कहने पर अभियोजन पक्ष द्वारा प्रस्तुत किए गए साक्ष्य के प्रभाव को निष्फल करने के लिए अभियुक्त द्वारा दंड संहिता की धारा 84 का अवलंब लिया जा सकता है। वह यह सिद्ध करते हुए ऐसा कर सकता है कि वह कार्य की प्रकृति को जानने के लिए अक्षम था या वह यह नहीं जान सकता था कि वह जो कर रहा है वह गलत है या विधि के प्रतिकूल है। किंतु मुख्य बात यह है कि दंड संहिता की धारा 84 के अधीन अभियुक्त के मामले को लाने का भार पूर्णरूप से उस व्यक्ति पर पड़ता है जो उस उपबंध का लाभ पाने का दावा कर रहा है। (पैरा 14)

विचार के लिए यह बात सामने आती है कि क्या वर्तमान मामला एक ऐसा मामला है जिसमें उन्मत्तता का अभिवाक् साबित किया गया है या अभियोजन पक्ष द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य और विचारण के दौरान परीक्षा किए गए न्यायालय साक्षियों के साक्ष्य के अनुसार भी संभाव्य है या नहीं। दो अभियोजन साक्षियों अर्थात् धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2) और वल्ली (अभि. सा. 3) के अभिसाक्ष्य महत्वपूर्ण हैं जिन्हें हम इस प्रक्रम पर निर्दिष्ट करेंगे। धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2) ने, दुर्घटना से संबंधित घटनाक्रम का वर्णन करते

हुए यह बताया कि उसका पति एक सरकारी कर्मचारी है जिसकी मासिक आय 4,000/- रुपए है जो उसका पति उसे घर का खर्च चलाने के लिए देता है। उसने यह भी कथन किया है कि पांच वर्ष तक पति-पत्नी का वैवाहिक जीवन शांतिपूर्ण रहा किंतु अपीलार्थी और उसके मामा कन्नन के बीच भू-संपत्ति को लेकर विवाद हो गया जिसमें से कुछ भूमि अपीलार्थी ने पहले ही बेच दी थी और वह शेष भूमि भी बेचना चाहता था। इस साक्षी के अनुसार, अपीलार्थी ने लगभग 12 बजे अपराह्न में झगड़ा आरंभ कर दिया लेकिन इस साक्षी पर एक घंटे के पश्चात् हमला किया। इस साक्षी ने यह भी कथन किया है कि नींद न आने की बीमारी के कारण अपीलार्थी कुछ औषधियों का सेवन किया करता था किंतु उसे उस क्लिनिक का नाम मालूम नहीं है जहां पर वह अपना उपचार करवा रहा था। इस साक्षी के अनुसार, अपीलार्थी का उपचार करने वाले मनोरोग चिकित्सक ने उसकी शारीरिक दशा का रोग निदान करके बताया कि उसकी ऐसी दशा अत्यधिक शराब पीने से हुई है और उसे यह परामर्श दिया कि यदि वह नियमित रूप से औषधियों का सेवन करेगा तो वह ठीक हो जाएगा। अब हम अपीलार्थी की माता श्रीमती वल्ली के अभिसाक्ष्य पर विचार करेंगे। इस साक्षी ने प्रतिपरीक्षा में यह कथन किया है कि अपीलार्थी लोक निर्माण विभाग के बंगले में चौकीदार के रूप में कार्य करता था और वह अपीलार्थी के कार्यालय में उसका दोपहर का भोजन देकर आया करती थी। उसने अपीलार्थी और उसके मामा के बीच कौटुंबिक संपत्ति से संबंधित विवाद को भी निर्दिष्ट किया है जिसके संबंध में अपीलार्थी ने पुलिस थाने में एक शिकायत भी दर्ज कराई थी। घटना की तारीख को उस परिवार ने लगभग 9 बजे पूर्वाह्न में भोजन किया और वे सोने चले गए। किंतु दंपति ने लगभग 1 बजे अपराह्न में लड़ना आरंभ किया जिसके परिणामस्वरूप धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2) पर हमला किया गया। इस साक्षी ने यह कथन किया है कि एक मनोरोग चिकित्सक के पास अपीलार्थी का उपचार चल रहा था जिसका क्लिनिक पेरुमल कोवी गली में है और साक्षी ने यह भी कथन किया है कि डाक्टर ने अपीलार्थी के रोग का पता लगाते हुए यह बताया है कि वह मानसिक रोग से ग्रस्त है जिसके कारण अधिकांशतः उसे गुस्सा आ जाता है। यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि अपीलार्थी सरकारी कर्मचारी था और चौकीदार के रूप में तैनात था और उसकी ड्यूटी का पर्यवेक्षण करने वाले किसी भी व्यक्ति (अधिकारी) द्वारा उसकी मानसिक दशा को लेकर कभी कोई शिकायत नहीं की गई थी। यह तथ्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि उसकी पत्नी श्रीमती धनलक्ष्मी ने भी, जो उसके साथ उसी घर में रहती थी अपीलार्थी के किसी भी रोग के संबंध में नहीं बताया

सिवाय निद्राभाव के जो अत्यधिक शराब पीने से हुआ था। वल्ली (अभि. सा. 3) का यह अभिसाक्ष्य भी अत्यंत अस्पष्ट है कि उसके पुत्र के मानसिक रोग का उपचार किया जा रहा था और यह अभिसाक्ष्य न्यायालय द्वारा यह निष्कर्ष निकाले जाने के लिए पर्याप्त नहीं है कि अपीलार्थी चित्त-विकृति से ग्रस्त था विशेषकर ऐसी स्थिति में जब साक्षी को अनेक क्षतियां कारित हुई हों और इसके बावजूद उसने विचारण के दौरान पक्षद्रोही होकर यह दर्शाने का प्रयास किया हो कि उसे उसके मकान के भीतर ही गिर जाने से क्षतियां कारित हुई हैं। इस साक्षी के इस कथन को इन परिस्थितियों में प्रथमदृष्ट्या ही स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि उसके पुत्र के मानसिक रोग का उपचार किया जा रहा था और उसके आधार पर अपीलार्थी के पक्ष में दोषमुक्ति का आदेश नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट है कि अपीलार्थी की माता अपने पुत्र को उसके द्वारा किए गए अपराधिक कार्य के दुष्परिणाम से बचाने के लिए उसका पक्ष ले रही है। मुख्य बात यह है कि विचारण के दौरान न्यायालय साक्षी के रूप में परीक्षा किए गए दो चिकित्सकों का अभिसाक्ष्य अपीलार्थी की उस मानसिक दशा के बारे में है जो चिकित्सकों ने परीक्षा के समय महसूस की थी न कि उस समय जब अपराध कारित किया गया था जो कि दंड संहिता की धारा 84 के अधीन लाभ का दावा करने के लिए सुसंगत है। अभिलेख पर उपलब्ध चिकित्सीय राय मात्र इस प्रश्न से संबंधित है कि क्या अपीलार्थी ऐसे किसी मानसिक या अन्य रोग से ग्रस्त है जो अपीलार्थी को विचारण के दौरान अपनी प्रतिरक्षा करने से रोकता हो। यह सत्य है कि यह तय करते समय कि क्या अभियुक्त दंड संहिता की धारा 84 का लाभ पाने का हकदार है या नहीं, न्यायालय को उन परिस्थितियों पर विचार करना चाहिए जो अपराध कारित किए जाने से पूर्व की अपराध कारित किए जाने के समय की और उसके पश्चात् की हैं किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि ऐसी परिस्थितियां विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा सिद्ध की जानी चाहिए। इस मामले में ऐसा कोई भी साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया है। इसके प्रतिकूल विशेषज्ञ के साक्ष्य से, जिसमें जिपमेर के डा. चन्द्रशेखरन का अभिसाक्ष्य और प्रमाणपत्र शामिल है, निःसंदेह यह सिद्ध होता है कि अपीलार्थी ऐसे किसी भी रोग से ग्रस्त नहीं है जिससे उसके प्रतिरक्षा करने की क्षमता में बाधा उत्पन्न होती हो। ऐसा कोई भी साक्ष्य नहीं है जिससे अपराध कारित किए जाने के समय पर अपीलार्थी का मानसिक रोग से ग्रस्त होने का पता चलता हो क्योंकि न तो अपीलार्थी की पत्नी ने और न ही उसकी माता ने एक भी ऐसी मानसिक अशक्तता के बारे में कहा है जिससे अपीलार्थी के लिए अपने कृत्यों की प्रकृति और परिणामों को

समझने में रुकावट पैदा होती हो । उस चिकित्सक की भी परीक्षा नहीं कराई गई है जिसने अपीलार्थी के निद्राभाव रोग का उपचार किया था और न ही उसकी मानसिक दशा की जानकारी रखने वाले किसी व्यक्ति को उन्मत्तता के अभिवाक् का समर्थन करने के लिए साक्षी कठघरे में बुलाया गया है । यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उन्मत्तता ऐसी शारीरिक दशा है जिसे लंबे समय तक संबद्ध व्यक्ति के मित्रों और नातेदारों से नहीं छिपाया जा सकता है । ऐसे किसी भी व्यक्ति को न्यायालय में प्रस्तुत न करना ध्यान देने योग्य है जिसने अपीलार्थी के अविवेकी या सनकी व्यवहार को देखा था । यह कहना ही पर्याप्त होगा कि अपीलार्थी द्वारा किए गए उन्मत्तता के अभिवाक् की न तो अभिपुष्टि की गई है और न ही इसकी कोई प्रायिकता है । श्री मणि ने अंतिम प्रयास के रूप में इस दलील के समर्थन में महाजर प्रदर्श पी. 3 में की गई कुछ मताभिव्यक्तियों का अवलंब लिया है कि अपीलार्थी अपराध कारित किए जाने के समय पर वास्तव में उन्मत्त था । उन्होंने यह दलील दी है कि महाजर में अपीलार्थी के मकान की भीतरी दीवारों पर कुछ लेख लिखे हुए हैं जिससे यह साबित होता है कि अपीलार्थी उन्मत्त था निचले न्यायालय के समक्ष भी ऐसी ही दलील दी गई है और उन कारणों से खारिज कर दी गई जिन्हें हमने पूर्णतया ठोस और स्वीकार्य पाया है विशेषकर जब अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य से यह सिद्ध हो गया हो कि अपीलार्थी शराब का आदी था और वह शराब के नशे में अपने मकान की दीवारों पर कोई भी संदेश या विनती लिख सकता था । अतः, निचले न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित करने में न्यायोचित किया है कि उन्मत्तता का अभिवाक् साबित नहीं किया गया है और साक्ष्य अधिनियम की धारा 105 के अधीन अपीलार्थी पर पड़ने वाले सबूत के भार का निर्वहन नहीं किया गया है । उच्च न्यायालय ने भी ठीक ही अभिनिर्धारित किया है कि मात्र इस तथ्य से अभियुक्त के उन्मत्त होने की बात साबित नहीं होती है कि उसने अपनी पत्नी, माता और बच्चे पर हमला किया था । इसी प्रकार, इस तथ्य के आधार पर भी अपीलार्थी को विकृत चित्त अर्थात् अपने द्वारा कारित किए गए कार्य की प्रकृति को न समझने वाला नहीं कहा जा सकता है कि वह घटनास्थल से भागा नहीं था । अनुभव से यह दर्शित होता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति समान या एक जैसी स्थिति में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया करते हैं । कुछ व्यक्ति घटनास्थल से भाग जाते हैं, कुछ नहीं भागते और कुछ व्यक्ति तो अभ्यर्पण करने के लिए पुलिस थाने तक चले जाते हैं और जो कुछ उन्होंने किया होता है, उसकी रिपोर्ट भी दर्ज करा देते हैं । घटना के पश्चात् का ऐसा आचरण अभिलेख पर प्रस्तुत अन्य साक्ष्य के आधार पर अपराधी की अपराधिता तय करने के

लिए सुसंगत हो सकता है, किंतु घटनास्थल से न भागने के आचरण से स्वयं यह दर्शित नहीं होता है कि संबद्ध व्यक्ति अपराध कारित करने के समय पर उन्मत्त था। (पैरा 19, 20, 21, 25, 26 और 27)

अब हम अपीलार्थी द्वारा कारित किए गए अपराध की प्रकृति और दंडादेश की मात्रा पर विचार करेंगे जिससे न्याय हो जाए। निचले न्यायालय ने अपीलार्थी को अबीरामी की हत्या का दोषी पाया है और धनलक्ष्मी की हत्या का प्रयास करने के अपराध के लिए 10 वर्ष के कठोर कारावास के अतिरिक्त आजीवन कारावास और दंड संहिता की धारा 342 के अधीन एक वर्ष के कारावास का दंड अधिनिर्णीत किया है। मामले की इन परिस्थितियों में हमें दंड संहिता की धारा 342 के अधीन की गई दोषसिद्धि या दंडादेश में परिवर्तन करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता है। हमें दंड संहिता की धारा 307 के अधीन की गई अपीलार्थी की दोषसिद्धि में भी हस्तक्षेप करने का भी कोई कारण दिखाई नहीं देता है सिवाय इसके कि 10 वर्ष के कठोर कारावास के बजाय 7 वर्ष का कारावास पर्याप्त है। तथापि, दंड संहिता की धारा 302 के अधीन की गई अपीलार्थी की दोषसिद्धि न्यायोचित नहीं है। हम ऐसा कई कारणों से कह रहे हैं। पहली बात यह है कि मृतका पर हमला किए जाने का कोई भी पूर्व चिन्तन नहीं किया गया था। अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य से यह दर्शित होता है कि परिवार लगभग 9 बजे अपराह्न में भोजन के पश्चात् सोने चला गया था। अपीलार्थी पति और धनलक्ष्मी पत्नी के बीच मध्यरात्रि में लगभग 12 बजे झगड़ा हुआ था और झगड़ा बढ़ने पर लगभग 1 बजे पूर्वाह्न में धनलक्ष्मी पर हमला हो गया। यह बात दो आहत साक्षियों के अभिसाक्ष्य से स्पष्ट है कि झगड़ा अचानक और बिना किसी पूर्व चिन्तन के किया गया था। दूसरा कारण यह है कि झगड़े के परिणामस्वरूप जो हमला किया गया उसमें अपीलार्थी ने अपनी पत्नी और माता पर तेजधार के काटने वाले हथियार का प्रयोग किया था। उक्त दोनों महिलाओं को कारित किए गए छिन्न घावों से अभियोजन पक्षकथन के इस भाग के बाबत परिसाक्ष्य साबित होता है। यह बात घटना से पूर्णतया असंबद्ध है कि घटना के इस प्रक्रम पर मृतका अबीरामी एक अन्य कमरे में थी। तीसरा कारण यह है कि अपीलार्थी ने अचानक झगड़ा हो जाने के कारण अपनी पत्नी पर आवेग की तीव्रता में हमला किया और उसने उसकी पत्नी को बचाने आई अपनी मां को क्षतिग्रस्त किया। आहत महिलाओं की चीख-पुकार से बराबर वाले कमरे में सोई अबीरामी (मृतका) जाग गई जो रोने लगी और

इस कारण अपीलार्थी का ध्यान उसकी ओर गया। चौथा कारण यह है कि मृतका पर किए गए हमले में केवल दो क्षतियां कारित हुई हैं जिनके परिणामस्वरूप अस्थिभंग हुआ है। पांचवा कारण यह है कि अपीलार्थी ने जिस प्रकार धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2) और वल्ली (अभि. सा. 3) पर तेजधार वाले हथियार से हमला किया था उसने स्पष्ट रूप से ऐसे हथियार से मृतका पर हमला नहीं किया है। इन परिस्थितियों में हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अपीलार्थी का मृतका की मृत्यु कारित करने का कोई भी आशय नहीं था, यद्यपि मृतका को पहुंची क्षतियों को देखने पर यह उपधारित किया जा सकता है कि अपीलार्थी को यह ज्ञान था कि इन क्षतियों से मृत्यु संभावित है। तथ्य यही रहता है कि अपीलार्थी ने अचानक हुए झगड़े में और आवेग की तीव्रता में पूर्व-चिंतन किए बिना आपराधिक मानव वध कारित किया है। यह तथ्य कि अपीलार्थी ने तेजधार वाले हथियार का प्रयोग नहीं किया जिससे वह पहले से लैस था, इससे यह दर्शित होता है कि उसने क्रूर या असामान्य रीति में कार्य नहीं किया है और न ही उसने असम्यक् लाभ उठाया है। धनलक्ष्मी के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि उसने अपीलार्थी को मृतक पर हमला करते हुए नहीं देखा था। अतः, यह पूर्णतया संभव है कि अपीलार्थी के केवल खाली हाथ से किए गए तीव्र वार से ही बच्चा बिस्तर से नीचे गिर गया जिसको ऐसी क्षति कारित हुई जो घातक साबित हुई। (पैरा 28, 29, 30, 31 और 32)

अवलंबित निर्णय

पैरा

[1964] [1964] 7 एस. सी. आर. 361 :
दहियाभाई छगनभाई ठक्कर बनाम गुजरात राज्य । 15

निर्दिष्ट निर्णय

[1974] (1974) 4 एस. सी. सी. 764 :
उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राम स्वरूप और एक अन्य ; 16

[1966] ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 1 :
भिखारी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य । 17

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2006 की दांडिक अपील सं. 1250.

2003 की दांडिक अपील सं. 1215 में मद्रास उच्च न्यायालय के तारीख 22 मार्च, 2006 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से

सर्वश्री के. के. मणि, अभिषेक
कृष्ण और मयूर आर. शाह

प्रत्यर्थी की ओर से

सर्वश्री आर. वेंकटरमणी (वरिष्ठ
अधिवक्ता), वी. जी. प्रगासम,
अलजो के. जोसफ, एस. जे.
अरस्तू और प्रभू रामा सुब्रह्मण्यम

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति टी. एस. ठाकुर ने दिया ।

न्या. ठाकुर – यह अपील मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए उस निर्णय और आदेश के विरुद्ध विशेष इजाजत द्वारा प्रस्तुत की गई है जिसके द्वारा 2003 की दांडिक अपील सं. 1215 खारिज की गई है और भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 302, 307 और 342 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए अपीलार्थी की दोषसिद्धि और अधिनिर्णीत दंडादेश कायम रखे गए हैं ।

2. संक्षेप में अभियोजन पक्षकथन इस प्रकार है कि अपीलार्थी यदवाल गली, पूवम कोटिचेरी, जिला कराइकल, तमिलनाडु स्थित मकान में निवास करता था । अपीलार्थी की पत्नी श्रीमती धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2), उसकी पुत्री अबीरामी आयु डेढ़ वर्ष के अतिरिक्त उसकी माता श्रीमती वल्ली (अभि. सा. 3) भी उसके साथ रहती थी । यह अभिकथन किया गया है कि दुर्घटना वाले दिन में अर्थात् तारीख 11-12 दिसंबर, 2000 की मध्य रात्रि में लगभग 1 बजे अपराह्न में अपीलार्थी अपनी पत्नी के साथ झगड़ा करने लगा कि जब से उसके साथ उसका विवाह हुआ है वह उसके लिए अशुभ है । ऐसा अभियोग करने के तत्काल प्रकोपन का कारण यह था कि वह अपनी माता की संपत्ति को बेचने में असफल रहा था क्योंकि इस संपत्ति से संबंधित राजस्व की प्रविष्टियां कन्नन के नाम में थीं जो कि अपीलार्थी का मामा है और ऐसा प्रतीत हुआ कि उसका मामा संपत्ति को बेचने के लिए सहमत नहीं है । पति और पत्नी के बीच हुए झगड़े ने और बुरा रूप ले लिया और अपीलार्थी ने अपनी पत्नी धनलक्ष्मी पर जानलेवा हमला किया जिसके परिणामस्वरूप उसके सिर, बाएं हाथ, दाएं गाल सहित शरीर के अन्य भागों पर अनेक क्षतियां कारित हुईं । वल्ली (अभि. सा. 3) जो कोई और नहीं अपितु अपीलार्थी की माता है, ने अपीलार्थी को उसकी पत्नी पर हमला किए जाने से नहीं रोका । इस घटना के दौरान माता को भी क्षतियां पहुंचीं । झगड़ा होने और दोनों महिलाओं पर हमला किए जाने पर जो चीख-पुकार हुई उससे अबीरामी

जाग गई जो बराबर वाले कमरे में सोयी हुई थी और वह रोने लगी । इस प्रक्रम पर अपीलार्थी, जैसाकि अभिकथन किया गया है, कमरे में गया और उसने मृतका पर वार किया जिसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो गई ।

3. अभियोजन पक्षकथन आगे इस प्रकार है कि अपीलार्थी ने आहत को मकान से बाहर नहीं जाने दिया और उसे कमरे में अंदर से बंद कर लिया । यह कथन किया गया है कि अगली सुबह लगभग 7 बजे अपराह्न में श्री आर. पार्वती (अभि. सा. 5) आर. नटराजन (अभि. सा. 1) के घर गया जो ग्राम की उसी गली में रहता है और पिछली रात्रि अपीलार्थी के घर में हुए झगड़े के बारे में बताया । इसके पश्चात् दोनों घटनास्थल पर आए और अपीलार्थी के मकान के दरवाजे के बाहर बहुत सा रक्त पड़ा हुआ पाया । चूंकि दरवाजा अंदर से बंद था इसलिए अभि. सा. 1 ने अपीलार्थी को उसका नाम लेकर आवाज लगाई, जिसने जवाब देते हुए कहा कि उसने अपनी माता और पत्नी को क्षतिग्रस्त कर दिया है और अब वह आत्महत्या करना चाहता है जिसके लिए उसने उन व्यक्तियों से जहर मांगा । इसी दौरान घटनास्थल पर बहुत से ग्रामवासी इकट्ठा हो गए और अपीलार्थी ने दरवाजा खोलने से इनकार कर दिया । पुलिस को टेलीफोन द्वारा सूचना दी गई जो घटनास्थल पर तत्काल पहुंच गई और पुलिस ने अपीलार्थी के दरवाजे को खोलने के लिए खटखटाया । अपीलार्थी ने ऐसा करने से इनकार कर दिया और उसने यह धमकी दी कि किसी ने भी मकान में घुसने की कोशिश की तो वह उसकी हत्या कर देगा । चूंकि अपीलार्थी अपनी बात पर अड़ा हुआ था, इसलिए पुलिस ने अभि. सा. 1, अभि. सा. 8 और अन्य व्यक्तियों की सहायता से बलपूर्वक दरवाजा खोला और अपीलार्थी को मकान के अंदर अरुवल से लैस पाया, उसकी माता और पत्नी गंभीर क्षतियों से ग्रस्त रक्त से लथपथ पड़ी हुई थीं । उन्होंने बराबर वाले कमरे में अबीरामी को क्षतिग्रस्त अवस्था में पाया । यह जाने बिना कि वह मृत है या जीवित, उसे उठा लिया गया और अन्य दोनों आहतों के साथ अस्पताल भेजा गया जहां पर चिकित्सक ने बच्चे को मृत अवस्था में लाया घोषित कर दिया । अन्वेषण पूरा किए जाने पर, पुलिस ने अपीलार्थी के विरुद्ध दंड संहिता की धारा 342, 307 और 302 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए आरोप पत्र फाइल किया । अपीलार्थी को सेशन न्यायालय, कराइकल के सुपुर्द कर दिया गया जहां पर अपीलार्थी ने दोषी न होने का अभिवाक् किया और विचारण किए जाने की मांग की ।

4. अभियोजन पक्ष ने अपने पक्षकथन के समर्थन में विचारण

न्यायालय के समक्ष कुल मिलाकर 21 साक्षियों की परीक्षा की जबकि अभियुक्त अपीलार्थी ने, जिसने मानसिक रोगी होने के आधार पर प्रतिरक्षा ली, कोई भी साक्षी प्रस्तुत नहीं किया सिवाय इसके कि उसने अपनी चिकित्सा परीक्षा किए जाने की प्रार्थना की और उसकी प्रार्थना मंजूर की गई और डा. आर. चंद्रशेखरन और पी. श्रीनिवासन, जिन्होंने अपीलार्थी की परीक्षा की थी, को न्यायालय साक्षी के रूप में अपीलार्थी के मानसिक स्वास्थ्य संबंधी अपनी मताभिव्यक्तियों के बारे में अभिसाक्ष्य देने के लिए बुलाया गया ।

5. परिणामस्वरूप विचारण न्यायालय ने मानसिक रोगी होने के अभिवाक् को खारिज कर दिया और अपीलार्थी को उस पर लगाए गए आरोपों का दोषी पाया और उसे अपनी पुत्री अबीरामी की हत्या करने के लिए आजीवन कारावास और दंड संहिता की धारा 342 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए एक वर्ष के कठोर कारावास और दंड संहिता की धारा 307 के अधीन दंडनीय दो अपराध कारित करने के लिए 1,000/- रुपए के जुर्माने के साथ 10 वर्ष के कठोर कारावास से दंडादिष्ट किया । सभी दंडादेशों के साथ-साथ चलाए जाने का आदेश किया ।

6. विचारण न्यायालय के निर्णय और आदेश से व्यथित होकर, अपीलार्थी ने मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की और उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्षों की पुष्टि करते हुए अपील खारिज कर दी, जैसाकि हमने पहले ही विचार किया है । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी को हथियार के साथ रंगे हाथों मकान के अंदर अभि. सा. 1, अभि. सा. 7, अभि. सा. 8 और अन्य व्यक्तियों की मौजूदगी में पकड़ा गया है । इसके अतिरिक्त, कोई भी कारण नहीं है कि उसकी पत्नी (अभि. सा. 2) जो संपूर्ण घटना की आहत प्रत्यक्षदर्शी साक्षी है, अपीलार्थी को इस मामले में मिथ्या फंसाएगी । उच्च न्यायालय ने यह भी मत व्यक्त किया है कि चूंकि अपीलार्थी की माता (अभि. सा. 3) जो कि इस घटना में क्षतिग्रस्त हुई है पक्षद्रोही हो गई है और उसने यह कथन किया है कि उसको अचानक गिर जाने से क्षतियां पहुंची हैं, इसलिए दंड संहिता की धारा 307 के अधीन दंडनीय अपराध अर्थात् उसकी माता की हत्या करने के प्रयास के लिए की गई अपीलार्थी की दोषसिद्धि अपास्त की जानी चाहिए । अभि. सा. 3 पक्षद्रोही हो गई थी, इस तथ्य से उच्च न्यायालय ने यह अर्थ नहीं निकाला है कि अभियोजन पक्षकथन पर इससे कोई कमी आएगी जहां तक मासूम बच्चे की हत्या

किए जाने और अपनी पत्नी धनलक्ष्मी की हत्या का प्रयास करने का संबंध है। मानसिक रोगी होने का अभिवाक् उच्च न्यायालय द्वारा इस आधार पर खारिज किया गया है कि ऐसी कोई सामग्री नहीं प्रस्तुत की गई है जिससे यह दर्शित होता हो कि अपीलार्थी अपराध कारित किए जाने के समय पर मानसिक रोग से ग्रस्त था। उपरोक्त निर्णय और आदेश की शुद्धता को वर्तमान अपील में चुनौती दी गई है, जैसाकि हमने पहले ही मत व्यक्त किया है।

7. अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री मणि ने अपील के समर्थन में एकमात्र मुद्दे पर दलील दी है। उन्होंने यह निवेदन किया है कि अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री से विचारण के दौरान अपीलार्थी द्वारा किया गया मानसिक रोगी होने का अभिवाक् पर्याप्त रूप से साबित हो जाता है। विद्वान् काउंसेल द्वारा, डा. पी. श्रीनिवासन (न्यायालय साक्षी 1) के अभिसाक्ष्य का अवलंब लिया गया है और इस साक्षी के अनुसार अपीलार्थी मानसिक रोग से ग्रस्त था। उसने हमारा ध्यान अन्य साक्षियों के अभिसाक्ष्य की ओर भी दिलाया है और यह दलील दी है कि अपीलार्थी का उपचार मनोचिकित्सक द्वारा किया गया था और वह अपनी बीमारी के लिए ओषधि का भी सेवन कर रहा था। विद्वान् काउंसेल द्वारा विशेषकर प्रदर्श पी. 3 की अंतर्वस्तु का अवलंब लिया गया है जो कि संप्रेक्षण महाजर है जिसमें अपीलार्थी के मकान की दीवारों पर की गई लिखत का उल्लेख किया गया है जिससे यह साबित होता है कि अपीलार्थी अपराध कारित किए जाने के समय पर भी विकृत-चित्त था। श्री मणि की दलील से यह स्पष्ट होता है कि (दीवार पर बनाए गए) आरेख से यह पता चलता है अपीलार्थी घटना के पूर्व और घटना के समय उन्मत्तता से ग्रस्त था। श्री मणि ने यह भी दलील दी है कि अपनी पत्नी, माता और बच्चे पर बिना किसी ठोस कारण के प्राणघाती हमला करने से स्वयं यह साबित हो जाता है कि अपीलार्थी उन्मत्त व्यक्ति है। श्री मणि ने यह भी दलील दी है कि अपीलार्थी के घटना के पश्चात् के आचरण से भी यह स्पष्ट होता है कि वह विकृत-चित्त है और विधिवत् रूप से मिलने वाला दंड संहिता की धारा 84 का लाभ पाने की प्रक्रिया में इस पहलू पर निचले न्यायालय विचार करने में असफल रहे हैं।

8. प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल श्री वेंकटरमणी ने यह दलील दी है कि विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष ठीक ही निकाला है कि अपीलार्थी द्वारा किया गया उन्मत्तता का अभिवाक् साबित नहीं किया गया है और अपीलार्थी को उस पर लगाए गए आरोपों का दोषी अभिनिर्धारित किया। श्री वेंकटरमणी ने यह दलील दी है

कि अपराध कारित किए जाने के समय पर विधिक उन्मत्तता को सिद्ध करने के लिए कोई भी विश्वसनीय साक्ष्य नहीं हैं ताकि अपीलार्थी को दंड संहिता की धारा 84 का लाभ दिया जा सके। अपीलार्थी घटनास्थल से नहीं भागा था या उसने अपनी पत्नी और बच्चे पर अकारण हमला किया था, इन तथ्यों से यह सिद्ध नहीं होता है कि अपीलार्थी विकृत-चित्त है, कार्य की प्रकृति को समझने में असमर्थ है या यह समझने में असमर्थ है कि जो कुछ वह कर रहा था गलत था या विधि के प्रतिकूल था। श्री वेंकटरमणी ने डा. आर. चंद्रशेखरन (न्यायालय साक्षी 2) के अभिसाक्ष्य का अवलंब अपनी इस दलील के समर्थन में लिया है कि अपीलार्थी घटना के समय या उसके द्वारा कारित किए गए अपराधों का विचारण किए जाने के समय उन्मत्त नहीं था।

9. निचले न्यायालयों के समक्ष यहां तक कि हमारे समक्ष भी अभियोजन पक्ष द्वारा दिए गए तथ्यात्मक वृत्तांत और उसकी ओर से परीक्षा किए गए साक्षियों को कोई भी चुनौती नहीं दी गई है। इस पर कोई विवाद नहीं है कि अपीलार्थी अपनी माता, पत्नी और अवयस्क बच्चे के साथ अपने ही मकान में रहता था। इस पर भी कोई विवाद नहीं है कि अपीलार्थी ने अपनी पत्नी पर हमला किया जो पारिवारिक रूप से उसके साथ थी और अपीलार्थी ने उसको अनेक क्षतियां पहुंचाई और उसने अपनी माता को भी क्षतिग्रस्त किया जिसने अपनी बहू को बचाने का प्रयास किया था। हमारे समक्ष श्री मणि द्वारा इस बात को भी चुनौती नहीं दी गई है कि अबीरामी को भी क्षतियां कारित हुई थीं जिनके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो गई। अपीलार्थी की माता (अभि. सा. 3) निःसंदेह विचारण के दौरान पक्षद्रोही हो गई थी और उसने यह साबित करने का प्रयास किया कि मकान में (जमीन पर) गिर जाने के कारण उसे क्षतियां पहुंची थीं किंतु अपीलार्थी की पत्नी (अभि. सा. 2) के अभिसाक्ष्य से अभियोजन पक्षकथन का पूर्ण रूप से समर्थन होता है और वह घटनाक्रम जिसके परिणामस्वरूप मासूम बच्ची अबीरामी की नृशंस हत्या की गई जो बराबर वाले कमरे में सोयी हुई थी और जिसका मात्र यह दोष था कि वह अपनी माता की चीख-पुकार सुनकर जाग गई थी और रोने लगी थी। इस पर भी कोई विवाद नहीं है कि अपीलार्थी को उस मकान से गिरफ्तार किया गया था जहां से आहत साक्षी अर्थात् अभि. सा. 2 और अभि. सा. 3 और अबीरामी को क्षतिग्रस्त अवस्था में उठाया गया था। विद्वान् काउंसेल द्वारा दी गई दलीलों से अतिरिक्त भी हमारा यह समाधान हो गया है कि धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2) के अभिसाक्ष्य को अविश्वसनीय ठहराने का किसी भी प्रकार

का कोई कारण नहीं है जिस पर अबीरामी की भांति प्राणघाती हमला तो किया गया परंतु वह पूरी कहानी विस्तार से बताने के लिए अबीरामी के प्रतिकूल जीवित रही जिससे हमारे मन में इस संबंध में कोई भी संदेह नहीं रह जाता है कि इस साक्षी का साक्ष्य पूर्णतया विश्वसनीय है। श्री आर. नटराजन (अभि. सा. 1) और श्री जे. अशोकन (अभि. सा. 8) ने भी धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2) के वृत्तांत का समर्थन और संपुष्टि की है जिससे मात्र यह दर्शित होता है कि अपीलार्थी और केवल अपीलार्थी ही ने अपनी पत्नी पर ही हमला नहीं किया अपितु अपनी कम आयु की पुत्री पर भी हमला किया जिसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो गई। उपरोक्त के संबंध में डा. रामामूर्ति (अभि. सा. 19) का अभिसाक्ष्य है जिन्होंने अबीरामी के शव का शवपरीक्षण किया और जिन्होंने शवपरीक्षण रिपोर्ट प्रदर्श पी. 25 साबित की है जिसमें अभागी बच्ची के शव पर आई क्षतियों का उल्लेख है। चिकित्सक ने यह राय व्यक्त की है कि शवपरीक्षण किए जाने के 24 से 36 घंटे पूर्व सिर में आई क्षतियों के परिणामस्वरूप होने वाले कोमा की स्थिति में आ जाने से मृत्यु हुई है और शव पर पाई गई क्षतियों से यह पता चलता है कि एम. ओ. 27 जैसे हथियार के कुंद भाग से ये क्षतियां कारित की जा सकती हैं।

10. इसी प्रकार डा. अन्नी पुला जुइलेट (अभि. सा. 16) जो सरकारी अस्पताल कराइकल में सहायक शल्य चिकित्सक के रूप में कार्यरत थी, के साक्ष्य से क्षति रिपोर्ट (प्रदर्श पी. 19) साबित होती है जिसमें धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2) को पहुंची क्षतियों का निम्न प्रकार उल्लेख है :-

- (1) टांग के दाईं ओर 3 सें. मी. × 3 सें. मी. माप की क्षति।
- (2) बाईं कोहनी पर 3 सें. मी. × 3 सें. मी. माप की क्षति।
- (3) बाएं अग्रबाहु पर 7 सें. मी. × 7 सें. मी. माप की क्षति। अग्रबाहु में अस्थि भंग की संभावना है।
- (4) बाएं हाथ पर 3 सें. मी. × 3 सें. मी. माप की क्षति।
- (5) बाएं हाथ पर 3 सें. मी. × 3 सें. मी. माप की क्षति।
- (6) हथेली पर क्षति है।
- (7) सभी अंगुलियां क्षतिग्रस्त हैं।
- (8) वक्ष पर 4 सें. मी. × 4 सें. मी. की क्षति है।

(9) 24 सप्ताह का भ्रूण है ।

(10) बाईं ओर 7 सें. मी. × 7 सें. मी. माप की फेस एंगल पर क्षति है ।

(11) करोटि के पीछे की ओर 8 सें. मी. × 8 सें. मी. माप की क्षति है ।

(12) करोटि में 10 सें. मी. × 12 सें. मी. माप का गहरा कटाव है । यह कटाव 3 सें. मी. × 3 सें. मी. माप का पीछे की ओर बढ़ा हुआ है ।

(13) करोटि के सामने की ओर त्वचा छिली हुई है ।

(14) दाएं हाथ पर क्षति है । दाएं हाथ की तर्जनी पर विदीर्ण घाव है जो अस्थि तक गहरा है ।

(15) करोटि पर 6 सें. मी. × 6 सें. मी. माप का गहरा कटाव है ।

11. अपीलार्थी की माता (अभि. सा. 3) को कारित हुई क्षतियों का वर्णन प्रदर्श पी. 20 में किया गया है जिसे इस साक्षी द्वारा निम्न प्रकार सिद्ध किया गया है :-

(1) बाएं अग्रबाहु पर कटाव है ।

(2) बाएं हाथ पर कलाई के निकट 7 सें. मी. × 6 सें. मी. माप का कटाव है ।

(3) ललाट पर 5 सें. मी. × 5 सें. मी. माप का कटाव है जो रिज अस्थि के बाईं ओर है ।

(4) बाएं अग्रबाहु पर कलाई के निकट 7 सें. मी. × 7 सें. मी. माप का गहरा कटाव है ।

(5) बाएं अग्रबाहु पर 5 सें. मी. × 5 सें. मी. गहरा कटाव ।

(6) करोटि पर लगभग 16 सें. मी. × 16 सें. मी. माप का गहरा कटाव जिसमें से अस्थि दृष्टिगोचर हो रही है ।

12. डा. श्री रामूलू (अभि. सा. 15) जनरल अस्पताल कराइकल में सहायक शल्य चिकित्सक है जिन्होंने अभि. सा. 2 के शरीर पर 15 क्षतियां पाईं और उन्होंने यह कथन किया है कि अभि. सा. 2 तारीख 12 दिसंबर, 2000 से 28 जनवरी, 2001 तक अस्पताल में भर्ती रहा । इस साक्षी के

अनुसार अपीलार्थी की माता (अभि. सा. 3) को भी छह क्षतियां पहुंची थीं और उसके दाएं हाथ की कनिष्का और तर्जनी उपचार के दौरान तारीख 8 जनवरी, 2001 को काट दी गई थी ।

13. उपरोक्त साक्ष्य के आधार पर और अभियोजन पक्ष द्वारा प्रस्तुत किए गए साक्षियों की सत्यता को कोई भी चुनौती न दिए जाने पर हमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है कि केवल अपीलार्थी ही अपनी पत्नी धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2) और पुत्री अबीरामी, जिसकी मृत्यु उक्त घटना में उसको पहुंची क्षतियों के परिणामस्वरूप हुई है, पर हमला करने के लिए जिम्मेदार है । इसके अतिरिक्त, यदि अपीलार्थी की माता पर किए गए हमले को विचारण के दौरान पक्षद्वेही हो गए साक्षी के आधार पर संदिग्ध मान लिया जाए और यह भी मान लिया जाए कि उसको नीचे गिर जाने से क्षतियां कारित हुई हैं तब भी यही निष्कर्ष निकालता है कि अपीलार्थी अपनी पुत्री अबीरामी आयु लगभग डेढ़ वर्ष का अपराधिक मानव वध कारित करने और अपनी पत्नी धनलक्ष्मी की हत्या का प्रयास करने के अपराध का दोषी है ।

14. तथापि, यह प्रश्न कि क्या अपीलार्थी दंड संहिता की धारा 84 का लाभ पाने का हकदार है या नहीं जिसके अंतर्गत यह उपबंध किया गया है कि कोई बात अपराध नहीं है, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा की जाती है, जो उसे करते समय चित्त-विकृति के कारण उस कार्य की प्रकृति, या यह कि जो कुछ वह कर रहा है वह दोषपूर्ण या विधि के प्रतिकूल है, जानने में असमर्थ है । अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य पर विचार करने से पूर्व जहां तक उन्मत्तता के आधार पर अपीलार्थी द्वारा अभिवाक् किए जाने का संबंध है हम उन पहलुओं पर विचार करना आवश्यक समझते हैं जो ऐसे मामलों के साथ सुसंगत हैं जिनमें उन्मत्तता का अभिवाक् किसी अपराध के अभियुक्त द्वारा अपनी प्रतिरक्षा में किया गया है । प्रथम पहलू ऐसी परिस्थिति की विद्यमानता को साबित करने के भार से संबंधित है जिसके अंतर्गत मामला दंड संहिता की धारा 84 की परिधि के भीतर आ जाता है । यह सत्य है कि किसी अपराध के कारित किए जाने को साबित करने का भार सदैव अभियोजन पक्ष पर होता है और यह भार कभी भी दूसरे पक्ष पर नहीं जाता है । यह प्रतिपादना भी उतनी ही सुस्थिर है कि यदि आशय अभियुक्त के विरुद्ध अभिकथित अपराध कारित करने का आवश्यक संघटक है तब अभियोजन को वह संघटक भी सिद्ध करना चाहिए । यह कहने से कोई लाभ नहीं है कि सामान्यतया किसी व्यक्ति का आशय या उसके मन की दशा का निष्कर्ष मामले की परिस्थितियों से निकाला जाता है । इसका यह

अर्थ हुआ कि यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति पर जानबूझकर हमला करता है और उसे कोई क्षति कारित करता है तब अपराध में प्रयोग किए गए हथियार और शरीर का वह भाग जिस पर वार किया गया है, के आधार पर यह उपधारित करना युक्तियुक्त होगा कि अभियुक्त का आशय उसी प्रकार की क्षति कारित करने का था जो उसने कारित की है। ऐसा कहने पर अभियोजन पक्ष द्वारा प्रस्तुत किए गए साक्ष्य के प्रभाव को निष्फल करने के लिए अभियुक्त द्वारा दंड संहिता की धारा 84 का अवलंब लिया जा सकता है। वह यह सिद्ध करते हुए ऐसा कर सकता है कि वह कार्य की प्रकृति को जानने के लिए अक्षम था या वह यह नहीं जान सकता था कि वह जो कर रहा है वह गलत है या विधि के प्रतिकूल है। किंतु मुख्य बात यह है कि दंड संहिता की धारा 84 के अधीन अभियुक्त के मामले को लाने का भार पूर्णरूप से उस व्यक्ति पर पड़ता है जो उस उपबंध का लाभ पाने का दावा कर रहा है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 105 इस संबंध में सुसंगत है जिसे इस प्रकार उद्धृत किया जा रहा है :-

“105. यह साबित करने का भार कि अभियुक्त का मामला अपवादों के अंतर्गत आता है – जबकि कोई व्यक्ति किसी अपराध का अभियुक्त है, तब उन परिस्थितियों के अस्तित्व को साबित करने का भार, जो उस मामले को भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) के साधारण अपवादों में से किसी के अंतर्गत या उसी संहिता के किसी अन्य भाग में, या उस अपराध की परिभाषा करने वाली किसी विधि में, अंतर्विष्ट किसी विशेष अपवाद या परंतुक के अंतर्गत कर देती है, उस व्यक्ति पर है और न्यायालय ऐसी परिस्थितियों के अभाव की उपधारणा करेगा।”

15. उपरोक्त का सावधानीपूर्वक परिशीलन करने पर यह दर्शित होता है कि अभियुक्त पर अपवाद साबित करने का भार ही नहीं है अपितु न्यायालय ऐसी परिस्थितियों की अनुपस्थिति उपधारित करेगा जिससे अभियुक्त का मामला दंड संहिता में के किसी भी भाग में अंतर्विष्ट सामान्य अपवाद या किसी विशेष अपवाद या उपबंध या उस अपराध को परिभाषित करने वाली विधि के अंतर्गत आ सकता हो। **दहियाभाई छगनभाई ठक्कर बनाम गुजरात राज्य¹** वाले मामले में किए गए इस न्यायालय के विनिश्चय का निम्न पैरा उन सिद्धांतों के समायोजित अनुस्मारक के रूप में कार्य कर सकता है, जो ऐसे मामलों में सबूत के भार को लागू होते हैं जिनमें

¹ [1964] 7 एस. सी. आर. 361.

अभियुक्त अपवाद का अभिवाक् करता है –

“उन्मत्तता के अभिवाक् के संदर्भ में सबूत के भार का सिद्धांत निम्न प्रतिपादनाओं में उल्लिखित किया जा सकता है –

(1) अभियोजन पक्ष को संदेह के परे यह साबित करना चाहिए कि अभियुक्त ने अपेक्षित आपराधिक मनःस्थिति के साथ अपराध कारित किया है और इसे साबित करने का भार विचारण के आरंभ से लेकर अंत तक सदैव अभियोजन पक्ष पर होता है ।
 (2) खंडनीय उपधारणा यह है कि दंड संहिता की धारा 84 द्वारा अधिकथित भाव के अनुसार अभियुक्त उस समय उन्मत्त नहीं था जब उसने अपराध कारित किया था ; अभियुक्त मौखिक, दस्तावेजी या पारिस्थितिक साक्ष्य जैसे सभी सुसंगत साक्ष्य को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करके इस बात का खंडन कर सकता है किंतु उस पर पड़ने वाला सबूत का भार उतना अधिक नहीं होता है जितना सिविल कार्यवाही के पक्षकार पर पड़ता है । (3) यदि अभियुक्त निश्चायक रूप से यह सिद्ध नहीं कर पाता है कि अपराध कारित किए जाने के समय पर वह उन्मत्त था तब अभियुक्त या अभियोजन पक्ष द्वारा न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए गए साक्ष्य से न्यायालय के मन में अभियुक्त की मनःस्थिति सहित अपराध के एक या अधिक संघटकों के संबंध में युक्तियुक्त संदेह पैदा हो सकता है और उस स्थिति में न्यायालय अभियुक्त को इस आधार पर दोषमुक्त करने का हकदार होगा कि अभियोजन पक्ष पर पड़ने वाले सबूत के सामान्य भार का निर्वहन नहीं किया गया है ।”

16. हम जिस द्वितीय पहलू का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं, यह है कि धारा 105 (उपरोक्त) के अधीन अभियुक्त पर पड़ने वाले सबूत के भार के निर्वहन का समाधान करने में सबूत के जिस मानक की प्रत्याशा अभियुक्त से की जाती है वैसी प्रत्याशा अभियोजन पक्ष से नहीं की जा सकती । इस न्यायालय के बहुत से निर्णयों में इस विषय पर विधिक प्रतिपादना को प्राधिकृतरूप से नियत किया है । इस संबंध में **उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राम स्वरूप और एक अन्य¹** वाले मामले में किए गए विनिश्चय को निर्दिष्ट करना पर्याप्त होगा जिसमें इस न्यायालय ने यह मत

¹ (1974) 4 एस. सी. सी. 764.

व्यक्त किया है :-

“अपवाद साबित करने के लिए अभियुक्त पर सबूत का जो भार पड़ता है वह उतना अधिक नहीं होता है जितना युक्तियुक्त संदेह के परे आरोप साबित करने के लिए अभियोजन पक्ष पर पड़ता है। अभियुक्त के लिए यह दर्शित करना पर्याप्त है, जैसाकि सिविल मामले में होता है, कि संभाव्यताओं की प्रबलता उसके पक्ष में है।”

17. **भिखारी** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**¹ वाले मामले में किया गया इस न्यायालय का विनिश्चय इसी प्रभाव का है।

18. अब हम उपरोक्त प्रतिपादनाओं के आधार पर अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री पर यह निश्चित करने के लिए विचार करेंगे कि क्या अपीलार्थी ने अपना पक्षकथन दंड संहिता की धारा 84 के अधीन लाने का भार उठाया है या नहीं। अपीलार्थी ने विधिक उन्मत्तता के अभिवाक् का समर्थन करने के लिए अपनी प्रतिरक्षा में कोई भी साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया है। यह एक महत्वपूर्ण पहलू हो सकता है किंतु इससे कोई निष्कर्ष नहीं निकलेगा, क्योंकि अभियोजन पक्ष द्वारा अभिलेख पर प्रस्तुत सामग्री का अवलंब लेने के लिए अभियुक्त स्वतंत्र है ताकि वह अपवाद के फायदे का दावा कर सके। ऐसे मामलों में प्रतिरक्षा के लिए दिया गया साक्ष्य असंबद्ध हो सकता है जिनमें प्रतिरक्षा पक्ष, अभियोजन पक्ष द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर अभियुक्त की दोषमुक्ति के लिए पक्षकथन साबित कर सके।

19. उपरोक्त के आधार पर विचार के लिए यह बात सामने आती है कि क्या वर्तमान मामला एक ऐसा मामला है जिसमें उन्मत्तता का अभिवाक् साबित किया गया है या अभियोजन पक्ष द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य और विचारण के दौरान परीक्षा किए गए न्यायालय साक्षियों के साक्ष्य के अनुसार भी संभाव्य है या नहीं। दो अभियोजन साक्षियों अर्थात् धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2) और वल्ली (अभि. सा. 3) के अभिसाक्ष्य महत्वपूर्ण हैं जिन्हें हम इस प्रक्रम पर निर्दिष्ट करेंगे। धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2) ने, दुर्घटना से संबंधित घटनाक्रम का वर्णन करते हुए यह बताया कि उसका पति एक सरकारी कर्मचारी है जिसकी मासिक आय 4,000/- रुपए है जो उसका पति उसे घर का खर्च चलाने के लिए देता है। उसने यह भी कथन किया है कि पांच वर्ष तक पति-पत्नी का वैवाहिक जीवन शांतिपूर्ण रहा किंतु अपीलार्थी और उसके मामा कन्नन के बीच भू-संपत्ति को लेकर विवाद हो गया जिसमें से

¹ ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 1.

कुछ भूमि अपीलार्थी ने पहले ही बेच दी थी और वह शेष भूमि भी बेचना चाहता था। इस साक्षी के अनुसार, अपीलार्थी ने लगभग 12 बजे अपराह्न में झगड़ा आरंभ कर दिया लेकिन इस साक्षी पर एक घंटे के पश्चात् हमला किया। इस साक्षी ने यह भी कथन किया है कि नींद न आने की बीमारी के कारण अपीलार्थी कुछ औषधियों का सेवन किया करता था किंतु उसे उस क्लिनिक का नाम मालूम नहीं है जहां पर वह अपना उपचार करवा रहा था। इस साक्षी के अनुसार, अपीलार्थी का उपचार करने वाले मनोरोग चिकित्सक ने उसकी शारीरिक दशा का रोग निदान करके बताया कि उसकी ऐसी दशा अत्यधिक शराब पीने से हुई है और उसे यह परामर्श दिया कि यदि वह नियमित रूप से औषधियों का सेवन करेगा तो वह ठीक हो जाएगा।

20. अब हम अपीलार्थी की माता श्रीमती वल्ली के अभिसाक्ष्य पर विचार करेंगे। इस साक्षी ने प्रतिपरीक्षा में यह कथन किया है कि अपीलार्थी लोक निर्माण विभाग के बंगले में चौकीदार के रूप में कार्य करता था और वह अपीलार्थी के कार्यालय में उसका दोपहर का भोजन देकर आया करती थी। उसने अपीलार्थी और उसके मामा के बीच कौटुंबिक संपत्ति से संबंधित विवाद को भी निर्दिष्ट किया है जिसके संबंध में अपीलार्थी ने पुलिस थाने में एक शिकायत भी दर्ज कराई थी। घटना की तारीख को उस परिवार ने लगभग 9 बजे पूर्वाह्न में भोजन किया और वे सोने चले गए। किंतु दंपति ने लगभग 1 बजे अपराह्न में लड़ना आरंभ किया जिसके परिणामस्वरूप धनलक्ष्मी (अभि. सा. 2) पर हमला किया गया। इस साक्षी ने यह कथन किया है कि एक मनोरोग चिकित्सक के पास अपीलार्थी का उपचार चल रहा था जिसका क्लिनिक पेरुमल कोवी गली में है और साक्षी ने यह भी कथन किया है कि डाक्टर ने अपीलार्थी के रोग का पता लगाते हुए यह बताया है कि वह मानसिक रोग से ग्रस्त है जिसके कारण अधिकांशतः उसे गुस्सा आ जाता है।

21. उपरोक्त दोनों साक्षी अपीलार्थी के निकट कौटुंबिक सदस्य हैं जिनके अभिसाक्ष्य से इस निष्कर्ष पर पहुंचना संभव नहीं है कि अपीलार्थी घटना के समय या उसके पूर्व किसी भी समय पर विकृत चित्त था। यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि अपीलार्थी सरकारी कर्मचारी था और चौकीदार के रूप में तैनात था और उसकी ड्यूटी का पर्यवेक्षण करने वाले किसी भी व्यक्ति (अधिकारी) द्वारा उसकी मानसिक दशा को लेकर कभी कोई शिकायत नहीं की गई थी। यह तथ्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि उसकी

पत्नी श्रीमती धनलक्ष्मी ने भी, जो उसके साथ उसी घर में रहती थी अपीलार्थी के किसी भी रोग के संबंध में नहीं बताया सिवाय निद्राभाव के जो अत्यधिक शराब पीने से हुआ था। वल्ली (अभि. सा. 3) का यह अभिसाक्ष्य भी अत्यंत अस्पष्ट है कि उसके पुत्र के मानसिक रोग का उपचार किया जा रहा था और यह अभिसाक्ष्य न्यायालय द्वारा यह निष्कर्ष निकाले जाने के लिए पर्याप्त नहीं है कि अपीलार्थी चित्त-विकृति से ग्रस्त था विशेषकर ऐसी स्थिति में जब साक्षी को अनेक क्षतियां कारित हुई हों और इसके बावजूद उसने विचारण के दौरान पक्षद्रोही होकर यह दर्शाने का प्रयास किया हो कि उसे उसके मकान के भीतर ही गिर जाने से क्षतियां कारित हुई हैं। इस साक्षी के इस कथन को इन परिस्थितियों में प्रथमदृष्ट्या ही स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि उसके पुत्र के मानसिक रोग का उपचार किया जा रहा था और उसके आधार पर अपीलार्थी के पक्ष में दोषमुक्ति का आदेश नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट है कि अपीलार्थी की माता अपने पुत्र को उसके द्वारा किए गए आपराधिक कार्य के दुष्परिणाम से बचाने के लिए उसका पक्ष ले रही है।

22. अब हम दो चिकित्सा विशेषज्ञों के अभिसाक्ष्य पर विचार करेंगे जिन्होंने विचारण के दौरान न्यायालय के आदेशाधीन अपीलार्थी की चिकित्सा परीक्षा की है। मनोरोग विशेषज्ञ डा. बी. श्रीनिवासन ने अपने अभिसाक्ष्य में यह कथन किया है कि तारीख 29 जुलाई, 2002 को विचारण न्यायालय द्वारा पारित उस आदेश के अनुसरण में जिसमें चिकित्सा परीक्षा किए जाने का निदेश दिया गया था, सरकारी अस्पताल करायकल में भर्ती कराया गया था ताकि उसकी मानसिक दशा और बोलने की सक्षमता का मूल्यांकन किया जा सके। इस साक्षी ने यह कथन भी किया है कि तारीख 29 जुलाई, 2000 को अपराह्न से 6 अगस्त, 2002 तक संप्रेक्षणाधीन रखा गया और इस दौरान वह सचेत, संचाली और अच्छे वस्त्र पहने हुए था और चिकित्सा परीक्षक से बातचीत कर रहा था। इस दौरान चिकित्सक ने अपीलार्थी की दशा का निम्न शब्दों में वर्णन किया है :-

“वह व्याकुल है, संदेहपूर्ण स्थिति में बार-बार इधर-उधर देखता है, अनुचित मुस्कान है, अपशब्द बड़बड़ा रहा है, लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं, इसी को लेकर भयभीत और चिंतित है, वह अकेला रहना चाहता है, रात को शांतिपूर्वक सोने के लिए थोड़ी शराब मांग रहा है। उसे बार-बार यह संदेह होता है कि किसी ने उससे धीरे से कुछ कहा है, उसे लगता है जैसे उसके वक्ष और मस्तिष्क के बीच

कोई खिचाव है जिसके कारण वह लोगों और चिकित्सा परीक्षक के साथ आराम से बातचीत नहीं कर पाता है । मेरी यह राय है कि उपरोक्त व्यक्ति विकृत चित्त है । निम्न प्रकार के मनोरोग संभव हो सकते हैं –

1. संविभ्रमी मनोरोग
2. रासायनिक पदार्थ से प्रेरित मनोरोग (अल्कोहल से प्रेरित)
3. जैव मनोरोग/जैव मानसिक विकार (सिर में कारित क्षति का अनुप्रभाव और व्यक्तित्व परिवर्तन)

अतः, मैं माननीय न्यायालय से निवेदन करता हूँ कि इस मामले में अन्य किसी मनोरोग चिकित्सक द्वारा एक और राय ली जाए और किसी शयनिक (क्लिनिकल) मनोरोग चिकित्सक द्वारा भी चिकित्सीय जांच कराई जाए ।”

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया है)

23. डा. बी. श्रीनिवासन की सिफारिश के आधार पर अपीलार्थी को जे.आई.पी.एम.ए.आर. अस्पताल, पांडिचेरी भेजा गया जहां उसे उस अस्पताल के मनोचिकित्सा विभाग के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष डा. आर. चंद्रशेखर (न्यायालय साक्षी 2) के संप्रेक्षणाधीन रखा गया । डा. चंद्रशेखर ने न्यायालय के समक्ष अपने अभिसाक्ष्य में यह कथन किया है कि अपीलार्थी तारीख 30 सितंबर, 2002 को भर्ती कराया गया था किंतु वह 1 अक्टूबर, 2002 को अस्पताल से भाग गया था और इस संबंध में डाक्टर ने एक रिपोर्ट प्रदर्श पी. 1 तैयार की । इस साक्षी ने सुसंगत अभिलेख का परिशीलन करने के पश्चात् यह अभिसाक्ष्य दिया कि अपीलार्थी में मनोरोग के कोई भी लक्षण नहीं हैं । इस साक्षी द्वारा साबित की गई विस्तृत रिपोर्ट में, जिसे प्रदर्श पी. 2 के रूप में चिह्नांकित किया गया है, अपीलार्थी की शारीरिक दशा का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है :-

“वह काफी बना-ठना हुआ था । वह बातचीत में शामिल हो गया । उसके व्यवहार में कोई भी असामान्यता नहीं थी । वह बातचीत में सहयोग कर रहा था । उसकी मनःस्थिति उचित और बोलचाल सामान्य थी । औपचारिक सोच-विचार में विकार आने या आधिपत्यभाव विकार या समझ-बूझ में विकार के लक्षण नहीं थे ।

इन्द्रियशोचर विकार का कोई लक्षण नहीं था। रोगी का ध्यान अपनी ओर आकृषित कराया जा सकता था और वह पूरी तरह ध्यान दे सकता था। उसे समय, स्थान और व्यक्ति का आभास था। वह तुरंत स्मरण कर सकता था, उसे नई और पुरानी बातें याद थीं। अनवधानता सामान्य थी। रोगी अपना निर्णय परिरक्षित रखता था। अंतर्दृष्टि मौजूद थी।”

24. चिकित्सक ने अपनी अंतिम रिपोर्ट में अपीलार्थी की मानसिक दशा और मनोरोग निदान का निम्न मूल्यांकन किया है :-

मनोरोग निदान मूल्यांकन

रोगी का इंद्रिय ज्ञान, स्मरण शक्ति और प्रज्ञा किंचित रूप से निर्बल हैं (स्मरण शक्ति भागफल 70 और कार्य कुशलता भागफल 72 है)। प्रबलतया प्रभावकारी विकारों के साथ मिश्रित मनोविकृति दिखाई देती है। रोगी को व्यावसायिक मामलों में अतिरिक्त समर्थन और मार्गदर्शन की आवश्यकता है।

यह चिकित्सा परीक्षा मनोविकृति (जिसे अन्यथा विशिष्ट नहीं किया गया है) के पूरे जीवनकाल के निदान के आधार पर की गई है और इस समय रोगमुक्त है। अस्पताल में भर्ती रहने के दौरान रोगी को विटामिन और प्रतिदिन 100 मिली. ग्राम क्लोरोप्रोमाजीन दिया जाता था। अस्पताल में उपचार के दौरान कोई भी घटना घटित नहीं हुई थी सिवाय इसके कि वह तारीख 1 अक्टूबर, 2002 को अस्पताल से फरार हो गया था। मेरी यह राय है कि उपरोक्त व्यक्ति इस समय ऐसे किसी भी मानसिक रोग से ग्रसित नहीं है जिसके कारण उसकी प्रतिरक्षा करने की क्षमता में बाधा उत्पन्न हो।

हस्ताक्षर - XXXXX

(डा. आर. चंद्रशेखरन)

तारीख : 5 अक्टूबर, 2002

विभागाध्यक्ष मनोरोग विज्ञान,

जिपमेर, पांडिचेरी - 6

25. मुख्य बात यह है कि विचारण के दौरान न्यायालय साक्षी के रूप में परीक्षा किए गए दो चिकित्सकों का अभिसाक्ष्य अपीलार्थी की उस मानसिक दशा के बारे में है जो चिकित्सकों ने परीक्षा के समय महसूस की थी न कि उस समय जब अपराध कारित किया गया था जो कि दंड संहिता की धारा 84 के अधीन लाभ का दावा करने के लिए सुसंगत है।

अभिलेख पर उपलब्ध चिकित्सीय राय मात्र इस प्रश्न से संबंधित है कि क्या अपीलार्थी ऐसे किसी मानसिक या अन्य रोग से ग्रस्त है जो अपीलार्थी को विचारण के दौरान अपनी प्रतिरक्षा करने से रोकता हो। यह सत्य है कि यह तय करते समय कि क्या अभियुक्त दंड संहिता की धारा 84 का लाभ पाने का हकदार है या नहीं, न्यायालय को उन परिस्थितियों पर विचार करना चाहिए जो अपराध कारित किए जाने से पूर्व की अपराध कारित किए जाने के समय की और उसके पश्चात् की हैं किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि ऐसी परिस्थितियां विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा सिद्ध की जानी चाहिए। इस मामले में ऐसा कोई भी साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया है। इसके प्रतिकूल विशेषज्ञ के साक्ष्य से, जिसमें जिपमेर के डा. चन्द्रशेखरन का अभिसाक्ष्य और प्रमाणपत्र शामिल है, निःसंदेह यह सिद्ध होता है कि अपीलार्थी ऐसे किसी भी रोग से ग्रस्त नहीं है जिससे उसके प्रतिरक्षा करने की क्षमता में बाधा उत्पन्न होती हो। ऐसा कोई भी साक्ष्य नहीं है जिससे अपराध कारित किए जाने के समय पर अपीलार्थी का मानसिक रोग से ग्रस्त होने का पता चलता हो क्योंकि न तो अपीलार्थी की पत्नी ने और न ही उसकी माता ने एक भी ऐसी मानसिक अशक्तता के बारे में कहा है जिससे अपीलार्थी के लिए अपने कृत्यों की प्रकृति और परिणामों को समझने में रुकावट पैदा होती हो। उस चिकित्सक की भी परीक्षा नहीं कराई गई है जिसने अपीलार्थी के निद्राभाव रोग का उपचार किया था और न ही उसकी मानसिक दशा की जानकारी रखने वाले किसी व्यक्ति को उन्मत्तता के अभिवाक् का समर्थन करने के लिए साक्षी कठघरे में बुलाया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उन्मत्तता ऐसी शारीरिक दशा है जिसे लंबे समय तक संबद्ध व्यक्ति के मित्रों और नातेदारों से नहीं छिपाया जा सकता है। ऐसे किसी भी व्यक्ति को न्यायालय में प्रस्तुत न करना ध्यान देने योग्य है जिसने अपीलार्थी के अविवेकी या सनकी व्यवहार को देखा था। यह कहना ही पर्याप्त होगा कि अपीलार्थी द्वारा किए गए उन्मत्तता के अभिवाक् की न तो अभिपुष्टि की गई है और न ही इसकी कोई प्रायिकता है।

26. श्री मणि ने अंतिम प्रयास के रूप में इस दलील के समर्थन में महाजर प्रदर्श पी. 3 में की गई कुछ मताभिव्यक्तियों का अवलंब लिया है कि अपीलार्थी अपराध कारित किए जाने के समय पर वास्तव में उन्मत्त था। उन्होंने यह दलील दी है कि महाजर में अपीलार्थी के मकान की भीतरी दीवारों पर कुछ लेख लिखे हुए हैं जिससे यह साबित होता है कि अपीलार्थी उन्मत्त था निचले न्यायालय के समक्ष भी ऐसी ही दलील दी गई

है और उन कारणों से खारिज कर दी गई जिन्हें हमने पूर्णतया ठोस और स्वीकार्य पाया है विशेषकर जब अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य से यह सिद्ध हो गया हो कि अपीलार्थी शराब का आदी था और वह शराब के नशे में अपने मकान की दीवारों पर कोई भी संदेश या विनती लिख सकता था। अतः, निचले न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित करने में न्यायोचित किया है कि उन्मत्तता का अभिवाक् साबित नहीं किया गया है और साक्ष्य अधिनियम की धारा 105 के अधीन अपीलार्थी पर पड़ने वाले सबूत के भार का निर्वहन नहीं किया गया है। उच्च न्यायालय ने भी ठीक ही अभिनिर्धारित किया है कि मात्र इस तथ्य से अभियुक्त के उन्मत्त होने की बात साबित नहीं होती है कि उसने अपनी पत्नी, माता और बच्चे पर हमला किया था।

27. इसी प्रकार, इस तथ्य के आधार पर भी अपीलार्थी को विकृत चित्त अर्थात् अपने द्वारा कारित किए गए कार्य की प्रकृति को न समझने वाला नहीं कहा जा सकता है कि वह घटनास्थल से भागा नहीं था। अनुभव से यह दर्शित होता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति समान या एक जैसी स्थिति में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया करते हैं। कुछ व्यक्ति घटनास्थल से भाग जाते हैं, कुछ नहीं भागते और कुछ व्यक्ति तो अभ्यर्पण करने के लिए पुलिस थाने तक चले जाते हैं और जो कुछ उन्होंने किया होता है, उसकी रिपोर्ट भी दर्ज करा देते हैं। घटना के पश्चात् का ऐसा आचरण अभिलेख पर प्रस्तुत अन्य साक्ष्य के आधार पर अपराधी की अपराधिता तय करने के लिए सुसंगत हो सकता है, किंतु घटनास्थल से न भागने के आचरण से स्वयं यह दर्शित नहीं होता है कि संबद्ध व्यक्ति अपराध कारित करने के समय पर उन्मत्त था।

28. अब हम अपीलार्थी द्वारा कारित किए गए अपराध की प्रकृति और दंडादेश की मात्रा पर विचार करेंगे जिससे न्याय हो जाए। निचले न्यायालय ने अपीलार्थी को अबीरामी की हत्या का दोषी पाया है और धनलक्ष्मी की हत्या का प्रयास करने के अपराध के लिए 10 वर्ष के कठोर कारावास के अतिरिक्त आजीवन कारावास और दंड संहिता की धारा 342 के अधीन एक वर्ष के कारावास का दंड अधिनिर्णीत किया है। मामले की इन परिस्थितियों में हमें दंड संहिता की धारा 342 के अधीन की गई दोषसिद्धि या दंडादेश में परिवर्तन करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता है। हमें दंड संहिता की धारा 307 के अधीन की गई अपीलार्थी की दोषसिद्धि में भी हस्तक्षेप करने का भी कोई कारण दिखाई नहीं देता है सिवाय इसके कि 10 वर्ष के कठोर कारावास के बजाय 7 वर्ष का

कारावास पर्याप्त है। तथापि, दंड संहिता की धारा 302 के अधीन की गई अपीलार्थी की दोषसिद्धि न्यायोचित नहीं है। हम ऐसा कई कारणों से कह रहे हैं। पहली बात यह है कि मृतका पर हमला किए जाने का कोई भी पूर्व चिन्तन नहीं किया गया था। अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य से यह दर्शित होता है कि परिवार लगभग 9 बजे अपराह्न में भोजन के पश्चात् सोने चला गया था। अपीलार्थी पति और धनलक्ष्मी पत्नी के बीच मध्यरात्रि में लगभग 12 बजे झगड़ा हुआ था और झगड़ा बढ़ने पर लगभग 1 बजे पूर्वाह्न में धनलक्ष्मी पर हमला हो गया। यह बात दो आहत साक्षियों के अभिसाक्ष्य से स्पष्ट है कि झगड़ा अचानक और बिना किसी पूर्व चिन्तन के किया गया था।

29. दूसरा कारण यह है कि झगड़े के परिणामस्वरूप जो हमला किया गया उसमें अपीलार्थी ने अपनी पत्नी और माता पर तेजधार के काटने वाले हथियार का प्रयोग किया था। उक्त दोनों महिलाओं को कारित किए गए छिन्न घावों से अभियोजन पक्षकथन के इस भाग के बाबत परिसाक्ष्य साबित होता है। यह बात घटना से पूर्णतया असंबद्ध है कि घटना के इस प्रक्रम पर मृतका अबीरामी एक अन्य कमरे में थी।

30. तीसरा कारण यह है कि अपीलार्थी ने अचानक झगड़ा हो जाने के कारण अपनी पत्नी पर आवेग की तीव्रता में हमला किया और उसने उसकी पत्नी को बचाने आई अपनी मां को क्षतिग्रस्त किया। आहत महिलाओं की चीख-पुकार से बराबर वाले कमरे में सोई मृतका जाग गई जो रोने लगी और इस कारण अपीलार्थी का ध्यान उसकी ओर गया।

31. चौथा कारण यह है कि मृतका पर किए गए हमले में केवल दो क्षतियां कारित हुई हैं जिनके परिणामस्वरूप अस्थिभंग हुआ है। चिकित्सक ने इन क्षतियों का वर्णन निम्न प्रकार किया है :-

“1. 2 सें.मी. × 0.5 सें.मी. × 0.5 सें.मी. माप की विदीर्ण क्षति है जो दाईं भौंह के मध्य में दिखाई दे रही है। घाव पर रक्त का थक्का जमा हुआ है।

2. गुमटा - चेहरे के बाईं ओर कपोलास्थि पर गुमटा है जिसकी माप 8 सें.मी. × 8 सें.मी. है। यह क्षति मृत्युपूर्व की है। उदर के पीछे की ओर धुंधला नीलाछन मौजूद है।”

32. पांचवा कारण यह है कि अपीलार्थी ने जिस प्रकार धनलक्ष्मी

(अभि. सा. 2) और वल्ली (अभि. सा. 3) पर तेजधार वाले हथियार से हमला किया था उसने स्पष्ट रूप से ऐसे हथियार से मृतका पर हमला नहीं किया है। इन परिस्थितियों में हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अपीलार्थी का मृतका की मृत्यु कारित करने का कोई भी आशय नहीं था, यद्यपि मृतका को पहुंची क्षतियों को देखने पर यह उपधारित किया जा सकता है कि अपीलार्थी को यह ज्ञान था कि इन क्षतियों से मृत्यु संभावित है। तथ्य यही रहता है कि अपीलार्थी ने अचानक हुए झगड़े में और आवेग की तीव्रता में पूर्व-चिंतन किए बिना आपराधिक मानव वध कारित किया है। यह तथ्य कि अपीलार्थी ने तेजधार वाले हथियार का प्रयोग नहीं किया जिससे वह पहले से लैस था, इससे यह दर्शित होता है कि उसने क्रूर या असामान्य रीति में कार्य नहीं किया है और न ही उसने असम्यक् लाभ उठाया है। धनलक्ष्मी के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि उसने अपीलार्थी को मृतक पर हमला करते हुए नहीं देखा था। अतः, यह पूर्णतया संभव है कि अपीलार्थी के केवल खाली हाथ से किए गए तीव्र वार से ही बच्चा बिस्तर से नीचे गिर गया जिसको ऐसी क्षति कारित हुई जो घातक साबित हुई।

33. परिणामतः, हम इस अपील को भागतः मंजूर करते हैं और अपीलाधीन निर्णय और आशय को उपान्तरित करते हुए अपीलार्थी को दंड संहिता की धारा 304 भाग-II के अधीन दोषसिद्ध करते हैं और उसे दस वर्ष की अवधि का कठोर कारावास भोगने का दंडादेश देते हैं। अपीलार्थी को हत्या के अपराध के लिए अधिनिर्णीत सात वर्ष का अवनत दंडादेश और दंड संहिता की धारा 304 भाग-II के अधीन अधिनिर्णीत दंडादेश के साथ दंड संहिता की धारा 342 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए एक वर्ष के कठोर कारावास का दंडादेश साथ-साथ चलेंगे। जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम किए जाने पर अधिनिर्णीत किए गए दंडादेश की पुष्टि की जाती है। अपीलार्थी दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 428 का फायदा लेने का हकदार होगा।

अपील भागतः मंजूर की गई।

अस./अनु.

[2013] 3 उम. नि. प. 28

रंजन द्विवेदी

बनाम

केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो, महानिदेशक के माध्यम से

तथा

आचार्य सुदेवानन्द अवधूत

बनाम

केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो, महानिदेशक के माध्यम से

17 अगस्त, 2012

न्यायमूर्ति एच. एल. दत्त और न्यायमूर्ति चन्द्रमौली कुमार प्रसाद

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 21 [सपटित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) की धारा 482] – विलंब के आधार पर दांडिक विचारण अभिखंडित करना – किसी दांडिक विचारण को एकमात्र विलंब के आधार पर अभिखंडित करना अनुज्ञेय नहीं है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 21 – शीघ्र विचारण का अधिकार – शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिलंघन करने वाले विलंब के प्रकार का अवधारण – शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिलंघन करने वाले प्रत्येक मामले में विलंब की मात्रा अपने आप में निश्चायक नहीं होती है ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 21, 32 और 142 – शीघ्र विचारण – दांडिक विचारण पूरा करने के लिए समय सीमा नियत करना – दांडिक विचारण में कार्यवाहियों को समाप्त करने के लिए समय सीमा विहित करना विधान बनाने की कोटि में आएगा जो कि न्यायिक दृष्टि से अनुज्ञेय नहीं है ।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल की गई इन रिट याचिकाओं में याची के “शीघ्र विचारण” के अधिकार को प्रवर्तित करने और दिल्ली के कड़कड़डूमा न्यायालय के विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश (पूर्वी) की फाइल पर लंबित “सेशन विचारण सं. एस. सी.1/06 को अभिखंडित करने” की ईप्सा की गई है । इस मामले में याची तत्कालीन केन्द्रीय रेल मंत्री की हत्या करने के अभियुक्त हैं और इसके लिए उनका विचारण किया जा रहा है । अभियोजन का यह पक्षकथन है कि तत्कालीन केन्द्रीय

रेल मंत्री तारीख 2 जनवरी, 1975 को समस्तीपुर के रेलवे स्टेशन पर एक बम्ब धमाके में क्षतिग्रस्त हुए थे और बाद में तारीख 3 जनवरी, 1975 को उन क्षतियों के कारण उनकी मृत्यु हो गई थी। प्रारंभिक अन्वेषण केन्द्रीय अन्वेषण विभाग, बिहार द्वारा किया गया था और बाद में इसे केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो को अंतरित कर दिया गया था, जिसने तारीख 10 नवम्बर, 1975 को आरोप पत्र फाइल किया था। इसके पश्चात्, यह मामला इस न्यायालय ने तत्कालीन बिहार सरकार द्वारा मध्यक्षेप करने के कारण तारीख 17 दिसम्बर, 1979 को दिल्ली में अंतरित कर दिया था। विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश, कड़कड़डूमा, दिल्ली ने अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध आरोप विरचित करने के पश्चात् विचारण आरंभ किया किन्तु दुर्भाग्यवश वह विचारण पिछले 37 वर्ष से अब भी लंबित है। वर्ष 1987 में, याची ने 12 वर्ष से अधिक समय तक विचारण लंबित होने के आधार पर इस न्यायालय के समक्ष आरोपों और कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए 1987 की रिट याचिका (दांडिक) सं. 268 फाइल की थी। इस न्यायालय ने तारीख 10 फरवरी, 1991 के अपने आदेश द्वारा विचारण न्यायालय को यह निदेश देते हुए उन रिट याचिकाओं का निपटारा कर दिया था कि वह विचारण को दिन प्रतिदिन आधार पर सुनवाई करके शीघ्र पूरा करे। तथापि, इस न्यायालय के इस निदेश के बावजूद कि विचारण शीघ्र पूरा किया जाए, विचारण अब भी विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश के समक्ष लंबित है। अब तक दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन अभियुक्त के कथन लेखबद्ध किए गए हैं, न्यायालय साक्षियों की परीक्षा की गई है तथा प्रतिरक्षा साक्षी के कथनों को लेखबद्ध करने का काम भी पूरा हो गया है और इन याचिकाओं की सुनवाई के समय विद्वान् काउन्सेल द्वारा सूचित किया गया है कि मामला अब बहस के लिए नियत किया गया है। विचारण की तारीख से आज तक 37 वर्ष से अधिक समय तक विचारण के पूरा होने में हुए विलंब के कारण याचियों ने आरोपों और विचारण को अभिखंडित करने की प्रार्थना करते हुए प्रस्तुत रिट याचिकाएं फाइल की हैं। चूंकि इन दोनों रिट याचिकाओं में ईप्सित उपचार एक ही है इसलिए इनका निपटारा इस सामान्य निर्णय द्वारा किया जाता है। उच्चतम न्यायालय द्वारा रिट याचिकाएं खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – यह स्थापित विधि है कि कोई दांडिक अपराध राज्य और समाज के विरुद्ध दोषपूर्ण समझा जाता है हालांकि वह किसी एक व्यक्ति के विरुद्ध कारित किया गया है। सामान्यतया, गंभीर अपराधों में, अभियोजन राज्य द्वारा चलाया जाता है और न्यायालय को अभियोजन को

एकमात्र विलंब के आधार पर समाप्त करने की शक्ति नहीं है। न्यायालय में समावेदन करने में देरी मात्र स्वतः ही मामले को खारिज करने का आधार प्रदान नहीं कर सकती भले ही वह अंतिम निर्णय पर पहुंचने वाली कोई सुसंगत परिस्थिति क्यों न हो। अतः विचारण को मात्र विलंब के आधार पर उसके कारणों पर विचार किए बिना समाप्त नहीं किया जा सकता है। (पैरा 9 और 36)

शीघ्र विचारण की गारंटी में अन्याय से बचना और न्यायालय और अभियोजन पक्ष पर युक्तियुक्त तत्परता के साथ विचारण के संबंध में कार्यवाही करने की बाध्यता अधिरोपित करके विलंब को रोकना आशयित है। इस गारंटी से तीन गुना प्रयोजन पूरा होता है। प्रथमतः, इससे अभियुक्त को अन्यायपूर्ण विचारण-पूर्व कारावास से संरक्षण मिलता है; द्वितीयतः, इससे अभियुक्त को अनसुलझे दांडिक आरोपों के कारण चिन्ता और लोक संदेह से मुक्ति मिलेगी तथा अंततः इससे इस जोखिम से संरक्षण मिलता है कि समय व्यतीत हो जाने पर साक्ष्य खो जाएगा या याददाश्त धुंधली पड़ जाएगी और इस प्रकार अभियुक्त की अपना बचाव करने की समर्थता का ह्रास हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, शीघ्र विचारण को शासित करने वाले दांडिक प्रक्रिया के नियमों और सांविधानिक उपबंधों, विशेषकर अनुच्छेद 21, दोनों का प्रयोजन अभियुक्त को निलंबित अभियोजन से संसक्त चिन्ता से मुक्ति दिलाना और युक्तियुक्त रूप से द्रुत न्याय प्रशासन प्रदान करना है। (पैरा 18)

विलंब के लिए कारण एक ऐसा कारक है जिस पर न्यायालय सामान्यतया इस बात का अवधारण करने के लिए निर्धारण करेंगे कि क्या किसी विशिष्ट अभियुक्त को उसके शीघ्र विचारण के अधिकार से वंचित किया गया है, जिसमें वह पक्षकार भी है जिसके कारण विलंब हुआ है। अभियोजन पक्ष की कार्रवाई या निष्क्रियता के कारण होने वाला विलंब एक ऐसा मुख्य कारक है जिस पर न्यायालयों द्वारा किसी दांडिक विचारण में हस्तक्षेप करते समय ध्यान में रखा जाएगा। अभियुक्त के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने के लिए विचारण में विलंब करने के सुविचारित प्रयास को अभियोजन पक्ष के विरुद्ध अत्यधिक महत्व दिया जाता है। तथापि, अनाशयित और अपरिहार्य विलंब या प्रशासनिक कारण, जिन पर अभियोजन पक्ष का कोई नियंत्रण नहीं है, जैसे न्यायालय की अतिसंकुलित विषय-सूची, पीठासीन अधिकारियों का अभाव, वकीलों की पड़ताल, वरिष्ठ न्यायालय द्वारा अभिहित न्यायाधीश अधिसूचित करने में विलंब (केवल प्रस्तुत

मामले में), अन्य न्यायालयों के समक्ष लंबित मामला, जिनमें उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय भी हैं और अभियुक्त के अनुरोध पर दांडिक विचारण का स्थगन, विचारण को युक्तियुक्त समय के भीतर पूरा करने में असफल होने के लिए उचित कारण हो सकता है। ऐसा विलंब या ऐसे विलंब अभियुक्त के शीघ्र विचारण संबंधी अधिकार के अतिक्रमणकारी नहीं हो सकते हैं और इन्हें यह विनिश्चय करते समय अपवर्जित किया जाना आवश्यक है कि अयुक्तियुक्त और अस्पष्टीकृत विलंब हुआ है अथवा नहीं। शीघ्र विचारण की आवश्यकता के संबंध में उचित हेतुक वाला अपवाद केवल एक कारक पर केन्द्रित होता है, अर्थात्, विलंब के लिए कारण और सहवर्ती परिस्थितियों का जांच से संबंध केवल उस सीमा तक है जितना वह स्वयं कारण के लिए पर्याप्त है। (पैरा 19)

उपधारणात्मक प्रतिकूल प्रभाव शीघ्र विचारण के दावे का निपटारा करने के लिए एकमात्र आधार नहीं है और उसे अन्य कारकों के साथ संतुलित किया जाना चाहिए। कुछ प्रतिकूल प्रभाव दर्शाने का भार अभियुक्त पर होता है हालांकि वास्तविक प्रतिकूल प्रभाव दर्शाना आवश्यक नहीं है। जब अभियुक्त प्रथमदृष्ट्या प्रतिकूल प्रभाव दर्शित कर देता है तो यह दर्शित करने का भार अभियोजन पक्ष पर अंतरित हो जाता है कि अभियुक्त पर कोई गंभीर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था। यह प्रश्न कि शीघ्र विचारण की गारंटी से संगत यह व्यपगमन कितना बड़ा है, प्रत्येक मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। यह अभिनिर्धारित करने का कोई आधार नहीं है कि शीघ्र विचारण के अधिकार को विनिर्दिष्ट दिनों, मासों या वर्षों में परिमाणित किया जा सकता है। मात्र समय का व्यतीत हो जाना यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि शीघ्र विचारण के अधिकार से इनकार किया गया है किन्तु एक ऐसा लंबा विलंब जो कि उपधारणात्मक रूप से प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला है, यह अवधारित करने के लिए अन्य कारकों की परीक्षा करने हेतु प्रेरित करता है कि अधिकारों का अतिक्रमण किया गया है अथवा नहीं। (पैरा 20)

विलंब की मात्रा स्वतः यह निष्कर्ष निकालने की अपेक्षा करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि अभियुक्त को शीघ्र विचारण के अधिकार से वंचित किया गया था। इसके विपरीत, यह विचार किए जाने वाले कारकों में से एक कारक है और उसे अन्य कारकों के मुकाबले अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। इसके अलावा, यह अवधारित करने के लिए कि अभियुक्त के शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिक्रमण किया गया है अथवा नहीं, विचार

किए जाने वाले कारकों में से विलंब की मात्रा अल्पतम निश्चायक है। जबकि इस संबंध में नजीर है कि अधिक लंबे विलंब के कारण भी सांविधानिक अधिकारों के अतिक्रमण का स्वभावतः निष्कर्ष नहीं निकलता है तथापि, इस संबंध में भी नजीर है कि अत्यधिक विलंब अपने आप में शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिक्रमण गठित कर सकेगा। सहन किया जाने वाला विलंब मामले की जटिलता, सबूत की रीति तथा अभिकथित अपराध की गंभीरता के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। यह पुनः प्रत्येक मामले पर निर्भर करता है। इस संबंध में कोई सामान्य नियम नहीं हो सकता है। यह इस बात का अवधारण करते समय कि अभियुक्त के शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिक्रमण हुआ है अथवा नहीं, एक संतुलनकारी प्रक्रिया है। विलंब की मात्रा अपने आप में कोई महत्वपूर्ण कारक नहीं है। (पैरा 21)

विचारण न्यायालय के लिए सभी मामलों में कार्यवाहियों को समाप्त करने के लिए समय सीमा विहित करना या उसकी समाप्ति पर अभियुक्त को दोषमुक्त या उन्मोचित करना विधान बनाने की कोटि में आएगा जो कि सांविधानिक न्यायालयों को उपलब्ध न्यायिक विधि बनाने की शक्ति के कार्यक्षेत्र के भीतर न्यायिक निदेशों द्वारा नहीं किया जा सकता है, तथापि, न्यायालय अनुच्छेद 21, 32, 141 और 142 का उदारतापूर्वक निर्वचन कर सकते हैं। (पैरा 23)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2010]	(2010) 3 एस. सी. सी. 398 : पी. विजयन बनाम केरल राज्य ;	10
[2009]	(2009) 3 एस. सी. सी. 355 : वकील प्रसाद सिंह बनाम बिहार राज्य ;	8
[2007]	(2007) 7 एस. सी. सी. 394 : जापानी साहू बनाम चन्द्र शेखर मोहन्ती ;	9
[2004]	(2004) 12 एस. सी. सी. 499 : राजस्थान राज्य बनाम इकबाल हुसैन ;	23
[2002]	(2002) 7 एस. सी. सी. 6 : राज्य बनाम नारायण वामन नेरूकर (डा.) ;	7,23
[2002]	(2002) 4 एस. सी. सी. 578 : पी. रामचन्द्र राव बनाम कर्नाटक राज्य ;	12,15,23, 25,33,34

[1999]	(1999) 7 एस. सी. सी. 604 : राज देव (II) बनाम बिहार राज्य ;	23
[1998]	(1998) 7 एस. सी. सी. 507 : राज देव शर्मा बनाम बिहार राज्य ;	23
[1996]	(1996) 4 एस. सी. सी. 33 : कामन काज़, एक रजिस्ट्रीकृत सोसायटी बनाम भारत संघ ;	23
[1994]	(1994) 3 एस. सी. सी. 569 : करतार सिंह बनाम पंजाब राज्य ;	12,14
[1992]	[1992] 1 उम. नि. प. 482 = (1992) 1 एस. सी. सी. 225 : अब्दुल रहमान अंतुले बनाम आर. एस. नायक ;	12,13, 33,34
[1979]	ए. आई. आर. 1979 एस. सी. 1360 : हुसैन आरा खातून (I) बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य ।	17

मूल (दांडिक) अधिकारिता : 2011 की रिट याचिका (दांडिक) सं.
200 और 205.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन रिट याचिकाएं ।

उपस्थित होने वाले पक्षकारों की ओर से सर्वश्री एच. पी. रावल, अपर महासालिसिटर, टी. आर. अंध्यारुजिना, ज्येष्ठ अधिवक्ता, एस. सी. पटेल, एम. एल. लाहोटी, आर. एस. शर्मा, फिरोज़ अहमद, पवन कुमार शर्मा अरविन्द तिवारी, (सुश्री) शबनम, सौमिक घोषाल, अरविन्द कुमार, (सुश्री) लक्ष्मी अरविन्द, (श्रीमती) पूनम प्रसाद, प्रदीप कुमार माथुर, राजीव नन्दा, पी. के. डे, श्रीनिवास खलप और अरविन्द कुमार शर्मा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एच. एल. दत्तू ने दिया ।

न्या. दत्तू - इन दोनों रिट याचिकाओं में ईप्सित उपचार एक ही है इसलिए इनका निपटारा इस सामान्य निर्णय द्वारा किया जाता है ।

2. भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल की गई इन रिट याचिकाओं में याची के “शीघ्र विचारण” के अधिकार को प्रवर्तित करने और दिल्ली के कड़कड़डूमा न्यायालय के विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश (पूर्वी) की फाइल पर लंबित “सेशन विचारण सं. एस. सी.1/06 को अभिखंडित करने” की ईप्सा की गई है ।

3. इस मामले में याची तत्कालीन केन्द्रीय रेल मंत्री श्री एल. एन. मिश्रा की हत्या करने के अभियुक्त हैं और इसके लिए उनका विचारण किया जा रहा है । अभियोजन का यह पक्षकथन है कि श्री एल. एन. मिश्रा तारीख 2 जनवरी, 1975 को समस्तीपुर के रेलवे स्टेशन पर एक बम्ब धमाके में क्षतिग्रस्त हुए थे और बाद में तारीख 3 जनवरी, 1975 को उन क्षतियों के कारण उनकी मृत्यु हो गई थी । प्रारंभिक अन्वेषण केन्द्रीय अन्वेषण विभाग, बिहार द्वारा किया गया था और बाद में इसे केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो को अंतरित कर दिया गया था, जिसने तारीख 10 नवम्बर, 1975 को आरोप पत्र फाइल किया था । इसके पश्चात्, यह मामला इस न्यायालय ने तत्कालीन बिहार सरकार द्वारा मध्यक्षेप करने के कारण तारीख 17 दिसम्बर, 1979 को दिल्ली में अंतरित कर दिया था । विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश, कड़कड़डूमा, दिल्ली ने अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध आरोप विरचित करने के पश्चात् विचारण आरंभ किया किन्तु दुर्भाग्यवश वह विचारण पिछले 37 वर्ष से अब भी लंबित है । वर्ष 1987 में, याची ने 12 वर्ष से अधिक समय तक विचारण लंबित होने के आधार पर इस न्यायालय के समक्ष आरोपों और कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए 1987 की रिट याचिका (दांडिक) सं. 268 फाइल की थी । इस न्यायालय ने तारीख 10 फरवरी, 1991 के अपने आदेश द्वारा विचारण न्यायालय को यह निदेश देते हुए उन रिट याचिकाओं का निपटारा कर दिया था कि वह विचारण को दिन प्रतिदिन आधार पर सुनवाई करके शीघ्र पूरा करे । तथापि, इस न्यायालय के इस निदेश के बावजूद कि विचारण शीघ्र पूरा किया जाए, विचारण अब भी विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश के समक्ष लंबित है । अब तक दंड प्रक्रिया संहिता (जिसे संक्षेप में ‘संहिता’ कहा गया है) की धारा 313 के अधीन अभियुक्त के कथन लेखबद्ध किए गए हैं, न्यायालय साक्षियों की परीक्षा की गई है तथा प्रतिरक्षा साक्षी के कथनों को लेखबद्ध करने का काम भी पूरा हो गया है और इन याचिकाओं की सुनवाई के समय हमें विद्वान् काउन्सेल द्वारा सूचित किया गया है कि मामला अब बहस के लिए नियत किया गया है ।

4. विचारण की तारीख से आज तक 37 वर्ष से अधिक समय तक विचारण के पूरा होने में हुए विलंब के कारण याचियों ने आरोपों और विचारण को अभिखंडित करने की प्रार्थना करते हुए प्रस्तुत रिट याचिकाएं फाइल की हैं ।

5. विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री टी. आर. अंध्यारुजिना ने यह दलील दी है कि प्रस्तुत मामले में विचारण 37 वर्षों से अधिक समय से लटका हुआ है और वह अब भी चल रहा है और यह शीघ्र विचारण कराने संबंधी अभियुक्त के मूल अधिकार के अतिक्रमण की कोटि में आता है । उसने यह दलील दी कि इस न्यायालय ने यह घोषित किया है कि शीघ्र विचारण का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन एक अपेक्षा है जिसमें नागरिक के प्राण और स्वाधीनता के अधिकार की गारंटी दी गई है । उसने यह दलील दी कि अभियुक्त-याची के जीवन का बेहतर भाग विचारण के दौरान जेल में पहले ही बीत चुका है और अब भी उसका भाग्य अंधकार में है । उसने यह दलील दी कि यह बात अतात्विक है कि क्या अभियुक्त दोषसिद्ध होगा या दोषमुक्त कर दिया जाएगा । यहां प्रश्न यह है : क्या कोई न्यायिक प्रणाली इतना असाधारण विलंब सहन करेगी ? क्या उच्चतम न्यायालय को इसे और आगे बने रहने देना चाहिए । उसने यह दलील दी कि यह दो कारणों से एक विलक्षण मामला है । प्रथमतः, दांडिक विचारण 37 वर्ष से अधिक समय से लंबित है और याचियों ने अपने जीवन का बेहतर भाग जेल में बिता दिया है । द्वितीयतः, इस न्यायालय ने वर्ष 1991 में याचियों की रिट याचिका का निपटारा करते समय विचारण न्यायालय को विचारण शीघ्र पूरा करने के लिए विनिर्दिष्ट निदेश जारी किए थे और विचारण न्यायालय ने इस आदेश को आसानी से अनदेखा कर दिया है जो कि इस न्यायालय द्वारा जारी किए गए निदेशों की पूर्ण अवज्ञा और उपेक्षा करने की कोटि में आता है । उसने आगे यह दलील दी कि यह तथ्य कि न्यायिक प्रणाली किसी विशिष्ट ढंग से कार्य करती है, विचारण पूरा करने में उसकी असफलता के लिए न्यायौचित्यपूर्ण नहीं हो सकता है । उसने यह दलील दी कि अनुच्छेद 21 न केवल अभियुक्त को संरक्षा प्रदान करता है बल्कि उसके कुटुम्ब के सदस्यों द्वारा भोगे गए कष्टों को भी विचार में लेता है । उसने यह दलील दी कि प्रक्रिया की असफलता के कारण याची पर्याप्त रूप से दंडित हुए हैं और विलंब होने के तथ्य से ही यह दर्शित होता है कि याचियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है । उसने आगे यह दलील दी कि यह एक ऐसा आदर्श मामला है जिसमें यह न्यायालय विचारण पूरा करने के लिए समय नियत करके दांडिक न्याय परिदान प्रणाली में की कमियों में

सुधार कर सकता है। उसने यह उल्लेख किया कि इस न्यायालय ने पूर्ववर्ती अवसर पर विचारण न्यायालय को दिन-प्रतिदिन के आधार पर विचारण करके उसे शीघ्र पूरा करने का निदेश जारी किया था किन्तु दो दशाब्दियों के पश्चात् वर्ष 2012 में भी यह विचारण अब तक पूरा नहीं हुआ है। उसने यह निवेदन किया कि यह न्यायालय इस पीड़ादायक लंबे विचारण को इस आधार पर अभिखंडित कर सकता है कि यह एक ऐसा विलक्षण मामला है जिससे न केवल याचियों पर गंभीर रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है बल्कि शीघ्र विचारण संबंधी उनके अधिकार का भी, जो कि उनके जीवन के अधिकार का एक अंग है, क्रूरतापूर्ण अतिक्रमण हुआ है। उसने यह दलील दी कि यह न्यायालय ऐसे मामले में, जिसके विचारण में 10 से 15 वर्षों तक का विलंब हुआ है, विचारण को शीघ्र पूरा करने का आदेश तो कर सकता है किन्तु ऐसे मामले में, जहां 37 वर्षों से भी अधिक का विलंब हुआ है, ऐसा नहीं किया गया है, इसलिए इस न्यायालय को निश्चित रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए और विचारण से छुटकारा दिलाना चाहिए।

6. 2011 की रिट याचिका (दांडिक) सं. 205 में याची का प्रतिनिधित्व विद्वान् काउन्सेल श्री अरविन्द कुमार ने किया है। उसने विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री टी. आर. अंध्यारुजिना द्वारा दिए गए तर्कों को अंगीकार किया है।

7. विद्वान अपर महासालिसिटर श्री रावल ने यह दलील दी है कि इस न्यायालय ने विचारण को विलंब के आधार पर अभिखंडित करने संबंधी याचियों के अभिवाक् को एक बार दिसम्बर, 1991 में नामंजूर कर दिया है। अतः, याची उसी अनुतोष के हकदार नहीं हैं जिसे इस न्यायालय द्वारा एक बार पहले नकार दिया गया था। इसके बाद उसने यह दलील दी कि विचारण में दिसम्बर, 1991 से आज तक हुए विलंब के लिए अभियोजन पक्ष किसी भी रीति में उत्तरदायी नहीं है। उसने विचारण न्यायालय की कार्यवाहियों और आदेशों से संबंधित तारीखों की विस्तृत सूची पढ़कर सुनाई। उसने आगे यह दलील दी कि अभियोजन पक्ष ने केवल तीन या चार अवसरों पर उचित और विधिमान्य कारणों से स्थगन की ईप्सा की है और अभियोजन पक्ष की ओर से विचारण को मुलतवी करने का कोई सुविचारित आशय नहीं था। विद्वान अपर महासालिसिटर ने **राज्य बनाम नारायण वामन नेरूकर (डा.)**¹ वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय

¹ (2002) 7 एस. सी. सी. 6.

का अवलंब लिया। उक्त मामले में, अभियुक्त को शासकीय गुप्त बात अधिनियम की धारा 3 और धारा 5 तथा दंड संहिता की धारा 120ख के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए आरोपित किया गया था। मजिस्ट्रेट ने अपने तारीख 16 अगस्त, 1999 के आदेश द्वारा संज्ञान लिया और आदेशिका जारी की। अभियुक्त ने दांडिक कार्यवाहियों को विलंब के आधार पर अभिखंडित करने के लिए उच्च न्यायालय में समावेदन किया। उच्च न्यायालय ने कार्यवाहियों को 12 वर्षों के अनावश्यक विलंब के आधार पर अभिखंडित कर दिया। अभियोजन-पक्ष ने उच्च न्यायालय के आदेश के विरुद्ध इस न्यायालय में समावेदन किया। इस न्यायालय ने उच्च न्यायालय के आदेश को अपास्त करते हुए मामला उच्च न्यायालय को सभी सुसंगत बातों पर विचार करने के पश्चात्, जिसमें यह तथ्य भी है कि दांडिक न्यायालय दांडिक कार्यवाहियों के विचारण को मात्र समय व्यपगत हो जाने के कारण समाप्त करने के लिए बाध्य नहीं हैं, नए सिरे से निपटारा करने के लिए प्रतिप्रेषित कर दिया। इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि विचारण में विलंब के मुद्दे पर विचार करते समय ऐसी कुछ सुसंगत बातें हैं जिन्हें न्यायालय को विचार में लेना चाहिए, जैसे क्या विलंब अभियुक्त द्वारा अपनाई गई विलंबकारी चालों के कारण हुआ था और अन्य सुसंगत पहलू जिनके कारण विलंब हुआ, परीक्षित साक्षियों की संख्या, उन दस्तावेजों की मात्रा जिन्हें प्रदर्शित करने की संभावना थी, उस अपराध की प्रकृति और जटिलता, जो अन्वेषण या न्यायनिर्णयन के अधीन है। ऐसे मामलों में सामान्य उपयोजन के लिए कोई आनुभाविक फार्मूला नहीं हो सकता है। प्रत्येक मामले का निर्णय उसकी अपनी पृष्ठभूमि और विशेष लक्षणों, यदि कोई हैं, के आधार पर करना होता है। कोई सामान्यीकरण संभव नहीं है और न ही किया जाना चाहिए।

8. इसके अलावा, उसने **वकील प्रसाद सिंह बनाम बिहार राज्य¹** वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लिया जिसमें अन्वेषण पूरा किए जाने के पश्चात् आरोपपत्र फाइल किया गया था और तत्पश्चात् विद्वान मजिस्ट्रेट ने तारीख 20 फरवरी, 1982 के अपने आदेश द्वारा संज्ञान किया किन्तु वर्ष 1987 तक कोई सारवान् कार्यवाही नहीं हुई। इसके पश्चात्, अभियुक्त ने उच्च न्यायालय में नए सिरे से अन्वेषण कराने के लिए समावेदन किया क्योंकि अन्वेषक अधिकारी को अन्वेषण करने की अधिकारिता नहीं थी। उच्च न्यायालय ने अपने तारीख 7 दिसम्बर, 1990

¹ (2009) 3 एस. सी. सी. 355.

के आदेश द्वारा मजिस्ट्रेट द्वारा संज्ञान करने के आदेश को अभिखंडित कर दिया और नए सिरे से अन्वेषण कराने का आदेश दिया। वर्ष 1988 तक कुछ भी नहीं किया गया था। अभियुक्त ने पुनः उच्च न्यायालय में संपूर्ण दांडिक कार्यवाहियों को इस आधार पर अभिखंडित करने के लिए समावेदन किया कि अभियोजन अभिकरण द्वारा पुनः अन्वेषण आरंभ नहीं किया गया है। तत्पश्चात्, वर्ष 2007 में ही पुनः अन्वेषण कराने का आदेश किया गया था और नया आरोपपत्र फाइल किया गया था। उच्च न्यायालय ने अभियुक्त द्वारा फाइल की गई वह याचिका खारिज कर दी थी। तथापि, इस न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि इसमें अत्यधिक विलंब हुआ है और कार्यवाही अभिखंडित कर दी गई। इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि सभी दांडिक अभियोजनों में शीघ्र विचारण संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन एक अन्य-संक्राम्य अधिकार है। यह अधिकार न केवल न्यायालय में चल रही वास्तविक कार्यवाहियों को लागू होता है बल्कि उसके क्षेत्र के भीतर पूर्ववर्ती पुलिस अन्वेषण भी आता है। प्रत्येक ऐसे मामले में, जिसमें शीघ्र विचारण के अधिकार का अभिकथित रूप से अतिलंबन किया जाता है, न्यायालय को सभी सहवर्ती परिस्थितियों पर विचार करते हुए संतुलनकारी कार्य करना होता और प्रत्येक मामले में यह अवधारित करना होता है कि क्या किसी विशेष मामले में वास्तव में शीघ्र विचारण के अधिकार से वंचित किया गया है।

9. श्री रावल ने आगे अपने इस तर्क के समर्थन में कि दांडिक न्याय का साधारण नियम यह है कि “अपराध कभी मरता नहीं है”, **जापानी साहू** बनाम **चन्द्र शेखर मोहन्ती**¹ वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लिया। इस न्यायालय ने यह उल्लेख किया कि यह सिद्धांत *nullum tempus aut locus occurrit regi* (क्राउन के लिए समय का व्यपगत हो जाना अपराधियों के विरुद्ध कार्यवाही करने में कोई वर्जन नहीं है)। इस न्यायालय ने आगे यह मत व्यक्त किया कि परिसीमा अधिनियम, 1963 (जिसे संक्षेप में ‘अधिनियम’ कहा गया है) दांडिक कार्यवाहियों को तब तक लागू नहीं होता है जब तक कि इस आशय के अभिव्यक्त और विनिर्दिष्ट उपबंध न हों, उदाहरणार्थ, अधिनियम के अनुच्छेद 114, 115, 131 और 132। यह स्थापित विधि है कि कोई दांडिक अपराध राज्य और समाज के विरुद्ध दोषपूर्ण समझा जाता है हालांकि वह किसी एक व्यक्ति के विरुद्ध कारित किया गया है। सामान्यतया, गंभीर अपराधों में,

¹ (2007) 7 एस. सी. सी. 394.

अभियोजन राज्य द्वारा चलाया जाता है और न्यायालय को अभियोजन को एकमात्र विलंब के आधार पर समाप्त करने की शक्ति नहीं है। न्यायालय में समावेदन करने में देरी मात्र स्वतः ही मामले को खारिज करने का आधार प्रदान नहीं कर सकती भले ही वह अंतिम निर्णय पर पहुंचने वाली कोई सुसंगत परिस्थिति क्यों न हो।

10. श्री रावल ने पी. विजयन बनाम केरल राज्य¹ वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का भी अवलंब लिया जिसमें वर्ष 1970 में एक नक्सली उग्रवादी किसी पुलिस मुठभेड़ में मारा गया था। तथापि, वर्ष 1988 में समाचारपत्र में एक लेख प्रकाशित किया गया था कि वह मुठभेड़ जिसमें उक्त नक्सली मारा गया था, फर्जी थी और इसके लिए कुछ ज्येष्ठ पुलिस अधिकारी उत्तरदायी थे। इन रिपोर्टों के आधार पर केरल उच्च न्यायालय के समक्ष रिट याचिकाएं फाइल की गई थीं जिनमें एक कांस्टेबल ने एक प्रति-शपथपत्र फाइल किया था जिसमें यह संस्वीकृति कथन किया गया था कि उसने अपने ज्येष्ठ अधिकारी के अनुदेशों पर उक्त नक्सली पर गोली चलाई थी। उच्च न्यायालय ने तारीख 17 जनवरी, 1999 के अपने आदेश द्वारा केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो को एक फर्जी मुठभेड़ में नक्सली को मारने के संबंध में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करने का निदेश दिया। अभियुक्त ने संहिता की धारा 227 के अधीन विचारण न्यायालय के समक्ष एक याचिका फाइल की। वह याचिका खारिज कर दी गई थी। इसके पश्चात्, अभियुक्त ने उच्च न्यायालय के समक्ष दांडिक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया। वह भी खारिज कर दिया गया था। इससे व्यथित होकर, अभियुक्त ने इस न्यायालय में समावेदन किया। इस न्यायालय ने उसकी अपील को खारिज करते हुए यह मत व्यक्त किया था कि इस प्रक्रम पर यह दावा नहीं किया जा सकता है कि अपीलार्थी के विरुद्ध कार्यवाही के लिए कोई पर्याप्त आधार नहीं है और उन्मोचन ही एकमात्र मार्ग बचा है। इसके अलावा, यह बात भी अतात्विक है कि क्या विचारण का अंत दोषसिद्धि या दोषमुक्ति होगा। यह भी मत व्यक्त किया गया है कि यह प्रश्न विचारण का मामला है कि क्या अभियोजन के पास मौजूद सामग्री पर्याप्त है अथवा नहीं।

11. श्री रावल ने यह कहकर अपनी दलील समाप्त की कि दांडिक कार्यवाहियों का वास्तविक प्रयोजन सच्चाई का पता लगाना होता है जो

¹ (2010) 3 एस. सी. सी. 398.

कि केवल विचारण के पूरा हो जाने के पश्चात् ही किया जा सकता है ।

12. हम अब्दुल रहमान अंतुले बनाम आर. एस. नायक¹, करतार सिंह बनाम पंजाब राज्य² और पी. रामचन्द्र राव बनाम कर्नाटक राज्य³ वाले मामलों में इस न्यायालय द्वारा की गई कतिपय मताभिव्यक्तियों को उद्धृत करके अपने विनिश्चय का प्रारंभ करते हैं ।

13. अब्दुल रहमान अंतुले बनाम आर. एस. नायक (उपर्युक्त) वाले मामले में संविधान पीठ ने कतिपय प्रतिपादनाएं विरचित की हैं जिनकी संख्या 11 है जो कि दिशानिर्देशों का काम करती हैं । वे प्रतिपादनाएं इस प्रकार हैं :-

“54. उपरोक्त विवेचन की दृष्टि में निम्नलिखित प्रतिपादनाएं मार्गदर्शक सिद्धांतों के रूप में पैदा होती हैं । हम यह पूर्व चेतावनी देते हैं कि ये प्रतिपादनाएं पूर्ण (सर्वांगीण) नहीं हैं । सभी परिस्थितियों का पूर्व अनुमान लगाना कठिन है । और न कोई ठोस और कठोर नियम अधिकथित करना संभव है । ये प्रतिपादनाएं निम्नलिखित हैं :-

1. संविधान के अनुच्छेद 21 में विवक्षित ऋजु, न्याय और युक्तियुक्त प्रक्रिया अभियुक्त को शीघ्र विचारण किए जाने का अधिकार प्रदान करती है । शीघ्र विचारण का अधिकार अभियुक्त का अधिकार है । यह तथ्य कि शीघ्र विचारण जनता के हित में भी है या यह सामाजिक हित की पूर्ति भी करता है, अभियुक्त के अधिकार को कम नहीं करता । यह सभी संबद्ध पक्षों के हित में है कि अभियुक्त का दोष या उसकी निर्दोषता उन परिस्थितियों में यथाशक्य शीघ्रता से अवधारित की जाए ।

2. अनुच्छेद 21 से निकलने वाला शीघ्र विचारण का अधिकार सभी प्रक्रमों को अर्थात्, अन्वेषण, जांच, विचारण, अपील, पुनरीक्षण और पुनः विचारण के प्रक्रमों को अपने में सम्मिलित करता है । इस न्यायालय ने इस अधिकार को इस रूप में समझा है और इस अधिकार के बारे में कोई निर्बंधित दृष्टिकोण अपनाने के लिए कोई कारण नहीं है ।

¹ [1992] 1 उम. नि. प. 482 = (1992) 1 एस. सी. सी. 225.

² (1994) 3 एस. सी. सी. 569.

³ (2002) 4 एस. सी. सी. 578.

3. अभियुक्त की दृष्टि से शीघ्र विचारण के अधिकार में अंतर्निहित पहलू निम्नलिखित हैं :-

(क) प्रतिप्रेषण और दोषसिद्धि-पूर्व निरोध की अवधि यथासंभव छोटी होनी चाहिए । दूसरे शब्दों में, अभियुक्त को उसकी दोषसिद्धि से पूर्व अनावश्यक या असम्यक् लंबी अवधि तक बन्दी नहीं रखा जाना चाहिए ;

(ख) असम्यक् विलंबित अन्वेषण, जांच या विचारण के फलस्वरूप उसकी चिंता, उत्सुकता, व्यय और उसके व्यवसाय और शांति में विघ्न कम से कम होना चाहिए ;

(ग) असम्यक् विलंब से अभियुक्त की स्वयं की प्रतिरक्षा करने की क्षमता का हास हो सकता है चाहे वह विलंब साक्षियों की मृत्यु, गायब हो जाने या उपलभ्य न होने के कारण या अन्यथा हुआ हो ।

4. उसी समय, कोई भी व्यक्ति इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर सकता कि सामान्यतः यह अभियुक्त ही होता है जो कार्यवाहियों को विलंबित कराने में हितबद्ध होता है । जैसा कि यह अक्सर उल्लेख किया जाता है, “विलंब एक सुविज्ञात प्रतिरक्षा चाल होता है ।” चूंकि अभियुक्त के दोष को साबित करने का भार अभियोजन पक्ष पर होता है इसलिए सामान्यतः विलंब का प्रतिकूल प्रभाव अभियोजन पर पड़ता है । साक्षियों की अनुपलभ्यता, काफी समय बीत जाने के कारण साक्ष्य का गायब हो जाना वास्तव में अभियोजन पक्ष के हित के विरुद्ध जाता है । वास्तव में, ऐसे मामले भी हो सकते हैं जिनमें किन्हीं कारणों से अभियोजन पक्ष भी कार्यवाहियों को विलंबित करता है । इसीलिए, प्रत्येक मामले में जहां पर शीघ्र विचारण के अधिकार का उल्लंघन किया गया अभिकथित है, वहां पहला प्रश्न जो उठता है और जिसका उत्तर देना होता है, यह होता है कि विलंब के लिए कौन उत्तरदायी है ? सद्भाव में किसी भी पक्षकार द्वारा अपने अधिकारों और हितों को न्यायसंगत ठहराने के लिए की गई कार्यवाहियों को, जैसा उनके द्वारा महसूस किया जाए, विलंबित करने की चालों के रूप में नहीं माना जा सकता, और न ऐसी कार्यवाहियों को चलाने में लिए गए समय की विलंब के खाते में गणना की जा सकती है । यह कहा जा

सकता है कि तुच्छ कार्यवाहियों या मात्र संगणना करने के दिन को विलंबित करने के लिए की गई कार्यवाहियों को सद्भाव में की गई कार्यवाहियों में के रूप में नहीं माना जा सकता । मात्र यह तथ्य कि कोई आवेदन/याचिका मंजूर कर ली गई है और किसी उच्चतर न्यायालय द्वारा रोक आदेश प्रदान कर दिया गया है, स्वयं इस बात का कोई सबूत नहीं है कि उक्त कार्यवाही तुच्छ नहीं है । अक्सर ये रोक आदेश एकपक्षीय अभ्यावेदन पर अभिप्राप्त किए जाते हैं ।

5. इस बारे में अवधारण करते समय कि क्या असम्यक् विलंब हुआ है ? (जिसके परिणामस्वरूप शीघ्र विचारण के अधिकार का उल्लंघन हुआ है) सभी विद्यमान परिस्थितियों को जिनके अंतर्गत अपराध की प्रकृति, अभियुक्त और साक्षियों की संख्या, संबद्ध न्यायालय में कार्य का भार, विद्यमान स्थानीय दशाएं और आदि-आदि भी हैं जिन्हें सर्वांगीण विलंब कहा जाता है, ध्यान में रखना होगा । यह सत्य है कि यह राज्य का दायित्व है कि वह शीघ्र विचारण सुनिश्चित करे और राज्य के अंतर्गत न्यायपालिका भी सम्मिलित है किन्तु ऐसे मामलों में पांडित्य प्रदर्शन की बजाय यथार्थवादी और व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए ।

6. प्रत्येक विलंब से अभियुक्त पर अनिवार्यतः प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता । कुछ विलंब उसके लिए लाभप्रद हो सकते हैं । जैसा कि बारकर के मामले में न्या. पावेल द्वारा मत व्यक्त किया गया है, “यह नहीं कहा जा सकता कि कितना लंबा विलंब ऐसी किसी प्रणाली में अत्यधिक लंबा है जिसमें यह प्रत्याशा की जाती है कि न्याय शीघ्र किन्तु सुविचारित हो ।” यही आदर्श यू. एस. **बनाम इवैल**(15 लाइयर्स एडीशन सेकेंड 627) में न्या. व्हाइट द्वारा निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया गया है :-

‘.....षष्ठम् संशोधन कि शीघ्र विचारण का अधिकार अनिवार्यतः संबंधबोधक है, विलंब से सामंजस्य रखता है और मात्र गति के बजाय इसके अनिवार्य संघटकों के रूप में सुव्यवस्थित (क्रमबद्ध) शीघ्रता के लिए उपबंध करता है; और क्या किसी अभियोजन को पूरा

करने में विलंब अधिकारों के असांविधानिक वंचन की कोटि में आता है ? और यह बात सभी परिस्थितियों पर निर्भर करती है ।

तथापि, अनियमित लंबे विलंब को प्रतिकूल प्रभाव के प्रकल्पित सबूत के रूप में लिया जा सकता है । इस संदर्भ में अभियुक्त की कैद का तथ्य भी एक सुसंगत तथ्य होगा । अभियोजन को एक उत्पीड़न नहीं बनने देना चाहिए । किन्तु अभियोजन कब उत्पीड़न बन जाता है, यह बात भी प्रत्येक मामले के अलग-अलग तथ्यों पर निर्भर करती है ।

7. हम मांग के नियम (डिमांड रूल) के नाम से पुकारे जाने वाले नियम को मान्यता नहीं दे सकते और न उसे कार्यान्वित कर सकते हैं । कोई अभियुक्त स्वयं का अभियोजन नहीं कर सकता; उसका अभियोजन पक्ष के आदेश (अनुरोध) पर न्यायालय द्वारा विचारण किया जा सकता है । इसलिए, अभियुक्त की शीघ्र विचारण से इनकार की दलील को यह कह कर विफल नहीं किया जा सकता है कि अभियुक्त ने किसी भी समय शीघ्र विचारण की मांग नहीं की थी । यदि किसी विशिष्ट मामले में उसने ऐसी कोई मांग की भी हो तो भी उसका शीघ्रता से विचारण नहीं किया गया था, तो यह उसके पक्ष में घनात्मक पहलू होगा, किन्तु मात्र शीघ्र विचारण की मांग न करने को अभियुक्त के विरुद्ध नहीं लिया जा सकता । संयुक्त राज्य अमेरिका में भी मांग के नियम की सुसंगतता पर बारकर और अन्य पश्चात्कर्ती मामलों में पानी फेर दिया गया है ।

8. अंत में, न्यायालय को संतुलन बनाए रखना है और अनेक सुसंगत पहलुओं को – ‘संतुलन की कसौटी’ और ‘संतुलन प्रक्रिया’ को तोलना होगा और प्रत्येक में यह अवधारण करना है कि किसी विशिष्ट मामले में शीघ्र विचारण के अधिकार से इनकार किया गया है ।

9. सामान्यतः बोलचाल में, जहां पर न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि किसी अभियुक्त के शीघ्र विचारण के अधिकार का उल्लंघन किया गया है तो, यथास्थिति, आरोप या दोषसिद्धि अभिखंडित की जाएगी । किन्तु यही एकमात्र खुला रास्ता (उपाय) नहीं है । किसी विशिष्ट मामले में अपराध की

प्रकृति और अन्य परिस्थितियां ऐसी हो सकती हैं कि कार्यवाहियों को अभिखंडित करना न्याय के हित में न हो। ऐसे मामले में न्यायालय को ऐसे अन्य समुचित आदेश करने की स्वतंत्रता होती है जिनमें उक्त विचारण को किसी नियत समय में पूरा करने का आदेश भी सम्मिलित है जहां पर विचारण पूरा नहीं हुआ है या जहां विचारण पूरा हो गया है वहां दंडादेश को कम करने का आदेश सम्मिलित है, जैसा उक्त मामले की परिस्थितियों में न्यायसंगत और साम्यायुक्त समझा जाए।

10. अपराधों के विचारण के लिए कोई समय-सीमा नियत करना न तो वांछनीय है और न व्यवहार्य है। ऐसा कोई नियम निश्चित किया ही जाना चाहिए। ऐसा नियम न्यायोचित्य को साबित करने के भार को मात्र अभियोजन पक्ष पर डालकर उत्पन्न नहीं किया जा सकता। शीघ्र विचारण के अधिकार के इनकार की शिकायत के प्रत्येक मामले में अभियोजन पक्ष को प्राथमिक रूप से उक्त विलंब को न्यायोचित ठहराना होगा और उसका स्पष्टीकरण देना होगा। उसी समय न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह उक्त शिकायत पर निर्णय देने से पहले उक्त विशिष्ट मामले की सभी परिस्थितियों को तोले। संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने भी अनेक बार षष्ठम् संशोधन के बावजूद कोई बाह्य समय सीमा नियत करने से इनकार कर दिया। और न हम ऐसा सोचते हैं कि ऐसी कोई बाह्य समय सीमा निश्चित न करने से शीघ्र विचारण के अधिकार की गारंटी निष्प्रभावी हो जाती है।

11. शीघ्र विचारण के अधिकार से इनकार पर आधारित कोई आपत्ति और उस आधार पर अनुतोष के लिए आवेदन पहले उच्च न्यायालय को संबोधित किया जाना चाहिए। भले ही उच्च न्यायालय ऐसी किसी दलील पर विचार करने के लिए तैयार हो फिर भी साधारणतः उसे गंभीर और आपवादिक प्रकृति के किसी मामले के सिवाय कार्यवाहियों को नहीं रोकना चाहिए। तथापि, उच्च न्यायालय में ऐसी कार्यवाहियों का निपटारा पूर्विकता के आधार पर किया जाना चाहिए।”

14. **करतार सिंह बनाम पंजाब राज्य** (उपर्युक्त) वाले मामले में एक अन्य संविधान पीठ ने शीघ्र विचारण के अधिकार पर विचार किया और यह

मत व्यक्त किया कि विलंब प्रत्येक मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करता है क्योंकि विलंब के लिए कारण भिन्न-भिन्न होंगे। इस न्यायालय ने निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :-

“84. शीघ्र विचारण का अधिकार मैग्ना कार्टा के एक उपबंध से विचलन है। यह सिद्धांत वर्जिनिया डिक्लेरेसन ऑफ राइट्स ऑफ 1776 और वहां से संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के षष्ठम् संशोधन में भी सम्मिलित किया गया है जो कि इस प्रकार है, “सभी दांडिक अभियोजनों में, अभियुक्त शीघ्र और लोक विचारण के अधिकार का उपभोग करेगा..।” इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि 1974 का फ़ैडरल ऐक्ट है जिसे ‘शीघ्र विचारण अधिनियम’ कहा जाता है, जिसमें मुख्य-मुख्य कार्य करने, उदाहरणार्थ, दांडिक मामलों के अभियोजन में सूचना, अभ्यारोपण, पक्षकार बनाने के लिए नियत समय-सीमाएं स्थापित की गई हैं। (ब्लैक कृत ला डिक्लेरेनरी, छठा संस्करण, पृष्ठ 1400 देखिए)।

85. शीघ्र विचारण का अधिकार न केवल अनुचित और अन्यायपूर्ण बन्दीकरण रोकने, अभियोग लगाने से संसक्त व्यग्रता और चिन्ता को कम करने और अपनी प्रतिरक्षा करने संबंधी अभियुक्त की क्षमता का ह्रास करने की संभावना को सीमित करने के लिए एक महत्वपूर्ण रक्षोपाय है बल्कि शीघ्र विचारण प्रदान करने में सामाजिक हित भी है। यह अधिकार अभी हाल ही में प्रवृत्त किया गया है और न्यायालयों ने ऐसे अनेक विनिश्चयों को अधिकथित किया है जिनमें मूल अधिकारों के नए परिदृश्य सामने आए हैं। वास्तव में, न्यायालय के समक्ष यह कथन करते हुए कार्यवाहियों को अत्यधिक और असम्यक् विलंब के आधार पर अभिखंडित करने के संबंध में अनेक मामले आ रहे हैं कि इस अधिकार का अवलंब लेने के लिए औपचारिक अभ्यारोपण या आरोप की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता भी नहीं है।

86. शीघ्र विचारण की संकल्पना का पठन अनुच्छेद 21 में हमारे संविधान के अधीन गारंटीकृत और परिरक्षित प्राण और स्वतंत्रता के मूल अधिकार के आवश्यक भाग के रूप में किया जाता है। शीघ्र विचारण का अधिकार गिरफ्तारी करने और उसके परिणामस्वरूप बन्दीकरण द्वारा अधिरोपित वास्तविक अवरोध से आरंभ होता है और वह सभी प्रक्रमों अर्थात्, अन्वेषण, जांच, विचारण, अपील और

पुनरीक्षण के प्रक्रम तक चलता रहता है, जिससे कि किसी भी ऐसे संभावित प्रतिकूल प्रभाव को रोका जा सके, जो अपराध कारित करने के समय से उसे अंतिमता प्रदान करने तक अननुज्ञेय और परिहार्य विलंब के परिणामस्वरूप पड़ सकता है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि शीघ्र विचारण संबंधी सांविधानिक गारंटी डंड प्रक्रिया संहिता की धारा 309 में उचित रूप से प्रतिबिंबित होती है।

87. इस न्यायालय ने हुसैनआरा खातून (I) बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य वाले मामले में भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 पर विचार करते समय इस प्रकार मत व्यक्त किया है (एस. सी. सी. पृष्ठ 89, पैरा 5) –

“किसी भी ऐसी प्रक्रिया को युक्तिसंगत, ऋजु या न्यायपूर्ण नहीं समझा जा सकता है जिसमें युक्तियुक्त रूप से त्वरित विचारण सुनिश्चित नहीं किया जाता है और वह अनुच्छेद 21 के विरुद्ध होगी। अतः, इस संबंध में कोई संदेह नहीं हो सकता है कि शीघ्र विचारण और शीघ्र विचारण से हमारा अभिप्राय युक्तियुक्त रूप से द्रुत विचारण से है, अनुच्छेद 21 में प्रतिष्ठापित प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार का अभिन्न और आवश्यक अंग है। तथापि, प्रश्न यह उद्भूत होगा कि तब क्या परिणाम होगा यदि किसी अपराध के अभियुक्त किसी व्यक्ति को शीघ्र विचारण से इनकार किया जाता है और अनुच्छेद 21 के अधीन उसके मूल अधिकार का अतिक्रमण करते हुए लंबे समय तक लंबित विचारण के परिणामस्वरूप उसे कारावास देकर उसकी स्वतंत्रता से वंचित किया जाता है। क्या वह बिना शर्त उन्मुक्त किए जाने का हकदार होगा और उसे इस आधार पर उसके विरुद्ध लगाए गए आरोप से मुक्त किया जाएगा कि असम्यक् लंबी कालावधि के पश्चात् उसका विचारण करना और ऐसे विचारण के पश्चात् उसे दोषसिद्ध करना अनुच्छेद 21 के अधीन उसके मूल अधिकार का अतिक्रमण गठित करेगा।”

(1) सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन (I) (ए. आई. आर. 1978 एस. सी. 1675), (2) हुसैन आरा खातून (I) बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य (ए. आई. आर. 1979 एस. सी. 1360), (3) हुसैन आरा खातून (IV) बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य, पटना (ए. आई. आर.

1979 एस. सी. 1369), (4) हुसैन आरा खातून (VI) **बनाम** गृह सचिव, बिहार राज्य, बिहार सरकार, पटना (ए. आई. आर. 1979 एस. सी. 1819), (5) कादरा पहाड़िया **बनाम** बिहार राज्य (II) (ए. आई. आर. 1982 एस. सी. 1167), (6) टी. वी. वथीश्वरन् **बनाम** तमिलनाडु राज्य (ए. आई. आर. 1983 एस. सी. 361) और (7) अब्दुल रहमान अंतुले **बनाम** आर. एस. नायक (ए. आई. आर. 1992 एस. सी. 1701) वाले मामले भी देखिए ।

88. इस प्रकार, इस न्यायालय ने अनेक न्यायिक विनिर्णयों द्वारा इस बात पर बार-बार जोर दिया है कि शीघ्र विचारण अनुच्छेद 21 में प्रतिष्ठापित प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार का एक पहलू है और विधि को ऐसी युक्तिसंगत, न्यायपूर्ण और ऋजु प्रक्रिया सुनिश्चित करनी चाहिए जिसका मेनका गांधी वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के पश्चात् सृजनात्मक अर्थ है ।”

इस न्यायालय ने आगे यह मत व्यक्त किया :-

“92. निस्संदेह, कोई भी कालावधि इस सिद्धांत के अधीन संवीक्षा पर खरी उतरने के लिए अपने आप में इतनी लंबी नहीं है और न ही अभियुक्त से मामलों के निपटान में हुए विलंब के कारण वास्तविक प्रतिकूल प्रभाव दर्शित करने की अपेक्षा की जाती है । दूसरी ओर, न्यायालय को अभियुक्त द्वारा परिहार्य विलंब के कारण संभावित प्रतिकूल प्रभाव और नुकसान को ध्यान में रखते हुए संतुलनकारी दृष्टिकोण अपनाना होता है और इस बात का अवधारण करना होता है कि क्या किसी दांडिक कार्यवाही में अभियुक्त को ऐसे अयुक्तियुक्त विलंब द्वारा शीघ्र विचारण कराने संबंधी उसके अधिकार से वंचित किया गया है जो कि निम्नलिखित कारकों से अभिलक्षित किया जा सकेगा - (1) विलंब की अवधि, (2) विलंब के लिए न्यायौचित्य, (3) अभियुक्त द्वारा शीघ्र विचारण संबंधी अपने अधिकार पर जोर देना, और (4) ऐसे विलंब के कारण अभियुक्त व्यक्ति पर पड़ने वाला प्रतिकूल प्रभाव । तथापि, विलंब संबंधी तथ्य प्रत्येक मामले की परिस्थितियों पर निर्भर करता है क्योंकि विलंब के लिए कारण भिन्न-भिन्न होंगे, जैसे कि अपराधों के व्यापक विस्तार और उसके राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय रूप से षड्यंत्रकारी नेटवर्क के कारण अन्वेषण में विलंब, साक्षी या साक्षियों का जानबूझकर अनुपस्थित रहना, न्यायालय की फाइल पर लंबी विषय-सूची इत्यादि ।”

15. इस न्यायालय के सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने पी. रामचन्द्र राव बनाम कर्नाटक राज्य (उपर्युक्त) वाले मामले में इस विषय से संबंधित नजीरों पर सविस्तार विचार करने के पश्चात् निम्न प्रकार मत व्यक्त किया है :-

“29. समस्त पूर्वगामी कारणों से हमारी यह राय है कि कामन काज़ (I) [कामन काज़ (II) वाले मामले में यथा-उपांतरित] और राज देव शर्मा (I) और (II) वाले मामलों में यह न्यायालय ऐसी परिसीमा अवधि विहित नहीं कर सकता था जिसके परे किसी दांडिक मामले का विचारण या कोई दांडिक कार्यवाही चालू नहीं रह सकती है और वह आज्ञापक रूप से अभियुक्त को दोषमुक्त या उन्मुक्त करने वाले आदेश करने के बाद समाप्त कर दी जानी चाहिए । अंततः, हम अभिनिर्धारित करते हैं -

(1) ए. आर. अंतुले वाले मामले में किया गया निर्णय सही है और वह अब भी इस क्षेत्र में लागू होता है ।

(2) संविधान के अनुच्छेद 21 से उद्भूत होने वाली और ए. आर. अंतुले वाले मामले में दिशानिर्देशों के रूप में अधिकथित शीघ्र विचारण का अधिकार प्रतिपादित करने वाली प्रतिपादनाओं में शीघ्र विचारण के अधिकार का पर्याप्त रूप से ध्यान रखा गया है । हम उक्त प्रतिपादनाओं को कायम रखते हैं और उन्हें पुनः अभिपुष्ट करते हैं ।

(3) ए. आर. अंतुले वाले मामले में अधिकथित दिशानिर्देश सर्वांगीण नहीं हैं बल्कि दृष्टांतस्वरूप हैं । वे कठोर नियमों के रूप में प्रवृत्त होने या संकीर्ण फार्मूले के रूप में लागू किए जाने के लिए आशयित नहीं हैं । उनका लागू होना प्रत्येक मामले की तथ्यात्मक स्थिति पर निर्भर करेगा । सभी स्थितियों का अनुमान लगाना कठिन होता है और कोई सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है ।

(4) समस्त दांडिक कार्यवाहियों के पूरा होने के लिए कोई अधिकतम सीमा तैयार या विहित करना न तो उपयुक्त है न ही साध्य और न ही न्यायिक रूप से अनुज्ञेय है । कामन काज़ (I), राज देव शर्मा (I) और राज देव शर्मा (II) वाले मामलों में दिए गए अनेक निदेशों में विहित समय-सीमाएं या परिसीमा वर्जन इस प्रकार विहित या नियत नहीं की जा सकती थी और वे सही विधि नहीं हैं । दांडिक न्यायालय विचारण या दांडिक कार्यवाहियों को मात्र समय के व्यपगत

हो जाने के कारण समाप्त करने के लिए बाध्य नहीं हैं, जैसा कि कामन काज़ (I), राज देव शर्मा (I) और (II) वाले मामलों में दिए गए निदेशों द्वारा विहित किया गया है। उन विनिश्चयों में विहित समय अवधियों को, उन न्यायालयों द्वारा, जो विचारण या कार्यवाहियों पर विचार कर रहे हैं, अधिक से अधिक तब अनुस्मारक के रूप में कार्य करने वाली माना जा सकता है जब उनसे अपने समक्ष वाले मामले में के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों के संबंध में अपने न्यायिक विवेक का प्रयोग करने और ए. आर. अंतुले वाले मामले में इंगित अनेक सुसंगत कारकों पर विचार करते हुए अवधारण करने और यह विनिश्चित करने के लिए कहा जाता है कि क्या विचारण या कार्यवाहियों में इतना अधिक विलंब हो गया है कि उन्हें अन्यायपूर्ण और अनावश्यक कहा जाना चाहिए। ऐसी समय-सीमाएं किसी भी न्यायालय द्वारा स्वतः विचारण या कार्यवाहियों को आगे जारी रखने के संबंध में वर्जन के रूप में और न्यायालय को उन्हें समाप्त करने और अभियुक्त को दोषमुक्त या उन्मोचित करने के लिए आज्ञापक रूप से बाध्य करने वाली नहीं मानी जा सकती हैं और न ही मानी जाएंगी।

(5) दांडिक न्यायालयों को शीघ्र विचारण के अधिकार को कार्यान्वित करने के लिए अपनी उपलब्ध शक्तियों, जैसे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 309, 311 और 258 के अधीन आने वाली शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए। किन्हीं दिशानिर्देशों की बजाय एक सावधान और तत्पर विचारण न्यायाधीश इस अधिकार का बेहतर संरक्षक साबित हो सकता है। समुचित मामलों में, समुचित अनुतोष या उपयुक्त निदेशों की ईप्सा करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 और संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन उच्च न्यायालय की अधिकारिता का अवलंब लिया जा सकता है।

(6) यह भारत संघ और राज्य सरकारों को न्यायपालिका को अपेक्षित निधियां, जनशक्ति और आधारभूत सुविधाएं प्रदान करके परिमाणात्मक और गुणात्मक दृष्टि से मजबूत करने संबंधी उनकी सांविधानिक बाध्यता के बारे में याद दिलाने का उचित अवसर है। हमें आशा और विश्वास है कि सरकारें इस दिशा में कार्य करेंगी।”

16. यह दांडिक मामला, जिसमें तारीख 2 जनवरी, 1975 को तत्कालीन रेल मंत्री एल. एन. मिश्रा की हत्या अंतर्वलित थी, अब भी वर्ष 2012 में, अर्थात् सैंतीस वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी लंबित है।

परिणामस्वरूप, दो अभियुक्तों ने दोषमुक्ति के लिए ये याचिकाएं फाइल की हैं। हमने विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री अंध्यारुजिना द्वारा दी गई दलीलों पर विचार किया है, जिसने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि यह एक विरला मामला है और इस न्यायालय के समक्ष इससे पूर्व ऐसा मामला नहीं आया है और हो सकता है कि भविष्य में भी ऐसा न हो। हम इस कथन पर अपनी टिप्पणी नहीं करना चाहते हैं। हम केवल यह मत व्यक्त कर सकते हैं कि हमारी विधिक प्रणाली ने अपराधियों के लिए जीवन आसान बना दिया है और कानून का पालन करने वाले नागरिकों के लिए जीवन और कठिन हो गया है।

17. हमारे संविधान में अभिव्यक्त रूप से यह घोषणा नहीं की गई है कि शीघ्र विचारण का अधिकार एक मूल अधिकार है। शीघ्र विचारण के अधिकार को सर्वप्रथम **हुसैन आरा खातून (I)** बनाम **गृह सचिव, बिहार राज्य¹** वाले मामले में स्वीकार किया गया था, जिसमें न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि शीघ्र विचारण संविधान के अनुच्छेद 21 की व्यापक परिधि और अंतर्वस्तु में सुस्पष्ट है। इसके पश्चात्, इस न्यायालय ने अनेक निर्णयों में यह अभिनिर्धारित किया है कि युक्तियुक्त रूप से शीघ्र विचारण भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 में प्रतिष्ठापित प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार का अभिन्न और आवश्यक अंग है।

18. शीघ्र विचारण की गारंटी में अन्याय से बचना और न्यायालय और अभियोजन पक्ष पर युक्तियुक्त तत्परता के साथ विचारण के संबंध में कार्यवाही करने की बाध्यता अधिरोपित करके विलंब को रोकना आशयित है। इस गारंटी से तीन गुना प्रयोजन पूरा होता है। प्रथमतः, इससे अभियुक्त को अन्यायपूर्ण विचारण-पूर्व कारावास से संरक्षण मिलता है; द्वितीयतः, इससे अभियुक्त को अनसुलझे दांडिक आरोपों के कारण चिन्ता और लोक संदेह से मुक्ति मिलेगी तथा अंततः इससे इस जोखिम से संरक्षण मिलता है कि समय व्यतीत हो जाने पर साक्ष्य खो जाएगा या याददाश्त धुंधली पड़ जाएगी और इस प्रकार अभियुक्त की अपना बचाव करने की समर्थता का ह्रास हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, शीघ्र विचारण को शासित करने वाले दांडिक प्रक्रिया के नियमों और सांविधानिक उपबंधों, विशेषकर अनुच्छेद 21, दोनों का प्रयोजन अभियुक्त को निलंबित अभियोजन से संसक्त चिन्ता से मुक्ति दिलाना और युक्तियुक्त रूप से द्रुत न्याय प्रशासन प्रदान करना है।

¹ ए. आई. आर. 1979 एस. सी. 1360.

19. विलंब के लिए कारण एक ऐसा कारक है जिस पर न्यायालय सामान्यतया इस बात का अवधारण करने के लिए निर्धारण करेंगे कि क्या किसी विशिष्ट अभियुक्त को उसके शीघ्र विचारण के अधिकार से वंचित किया गया है, जिसमें वह पक्षकार भी है जिसके कारण विलंब हुआ है। अभियोजन पक्ष की कार्रवाई या निष्क्रियता के कारण होने वाला विलंब एक ऐसा मुख्य कारक है जिस पर न्यायालयों द्वारा किसी दांडिक विचारण में हस्तक्षेप करते समय ध्यान में रखा जाएगा। अभियुक्त के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने के लिए विचारण में विलंब करने के सुविचारित प्रयास को अभियोजन पक्ष के विरुद्ध अत्यधिक महत्व दिया जाता है। तथापि, अनाशयित और अपरिहार्य विलंब या प्रशासनिक कारण, जिन पर अभियोजन-पक्ष का कोई नियंत्रण नहीं है, जैसे न्यायालय की अतिसंकुलित विषय-सूची, पीठासीन अधिकारियों का अभाव, वकीलों की पड़ताल, वरिष्ठ न्यायालय द्वारा अभिहित न्यायाधीश अधिसूचित करने में विलंब (केवल प्रस्तुत मामले में), अन्य न्यायालयों के समक्ष लंबित मामला, जिनमें उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय भी हैं और अभियुक्त के अनुरोध पर दांडिक विचारण का स्थगन, विचारण को युक्तियुक्त समय के भीतर पूरा करने में असफल होने के लिए उचित कारण हो सकता है। ऐसा विलंब या ऐसे विलंब अभियुक्त के शीघ्र विचारण संबंधी अधिकार के अतिक्रमणकारी नहीं हो सकते हैं और इन्हें यह विनिश्चय करते समय अपवर्जित किया जाना आवश्यक है कि अयुक्तियुक्त और अस्पष्टीकृत विलंब हुआ है अथवा नहीं। शीघ्र विचारण की आवश्यकता के संबंध में उचित हेतुक वाला अपवाद केवल एक कारक पर केन्द्रित होता है, अर्थात्, विलंब के लिए कारण और सहवर्ती परिस्थितियों का जांच से संबंध केवल उस सीमा तक है जितना वह स्वयं कारण के लिए पर्याप्त है। हमने इस स्थापित स्थिति को ध्यान में रखते हुए विद्वान् अपर महासालिसिटर श्री रावल द्वारा तैयार किए गए टिप्पण का परिशीलन किया है। यद्यपि, प्रस्तुत किया गया टिप्पण विचारण न्यायालय द्वारा रखे गए आदेशपत्रों की प्रतियों के साथ प्रमाणित नहीं है तथापि, चूंकि उनके संबंध में किसी भी पक्ष द्वारा कोई विवाद नहीं किया गया है इसलिए हमने उसमें दी गई जानकारी को सही मान लिया है। इस टिप्पण से यह प्रकट होता है कि अभियोजन पक्ष वर्ष 1991 से 2012 तक 4-5 स्थगन लेने के अलावा किसी भी रीति में विलंब के लिए उत्तरदायी नहीं है। अतः, हमारी राय में याचियों के विचारण में वर्ष 1991 से 2012 तक विलंब एकमात्र रूप से याचियों और अन्य अभियुक्त व्यक्तियों के कारण हुआ है।

20. विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री अंध्यारुजिना के तर्क का दूसरा आधार यह है कि विचारण पूरा होने में असफलता के कारण न केवल याचियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है बल्कि उनके कुटुम्ब के सदस्य भी प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुए हैं । उपधारणात्मक प्रतिकूल प्रभाव शीघ्र विचारण के दावे का निपटारा करने के लिए एकमात्र आधार नहीं है और उसे अन्य कारकों के साथ संतुलित किया जाना चाहिए । कुछ प्रतिकूल प्रभाव दर्शाने का भार अभियुक्त पर होता है हालांकि वास्तविक प्रतिकूल प्रभाव दर्शाना आवश्यक नहीं है । जब अभियुक्त प्रथमदृष्ट्या प्रतिकूल प्रभाव दर्शित कर देता है तो यह दर्शित करने का भार अभियोजन पक्ष पर अंतरित हो जाता है कि अभियुक्त पर कोई गंभीर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था । यह प्रश्न कि शीघ्र विचारण की गारंटी से संगत यह व्यपगमन कितना बड़ा है, प्रत्येक मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों पर निर्भर करेगा । यह अभिनिर्धारित करने का कोई आधार नहीं है कि शीघ्र विचारण के अधिकार को विनिर्दिष्ट दिनों, मासों या वर्षों में परिमाणित किया जा सकता है । मात्र समय का व्यतीत हो जाना यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि शीघ्र विचारण के अधिकार से इनकार किया गया है किन्तु एक ऐसा लंबा विलंब जो कि उपधारणात्मक रूप से प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला है, यह अवधारित करने के लिए अन्य कारकों की परीक्षा करने हेतु प्रेरित करता है कि अधिकारों का अतिक्रमण किया गया है अथवा नहीं ।

21. विलंब की मात्रा स्वतः यह निष्कर्ष निकालने की अपेक्षा करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि अभियुक्त को शीघ्र विचारण के अधिकार से वंचित किया गया था । इसके विपरीत, यह विचार किए जाने वाले कारकों में से एक कारक है और उसे अन्य कारकों के मुकाबले अधिक महत्व दिया जाना चाहिए । इसके अलावा, यह अवधारित करने के लिए कि अभियुक्त के शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिक्रमण किया गया है अथवा नहीं, विचार किए जाने वाले कारकों में से विलंब की मात्रा अल्पतम निश्चायक है । जबकि इस संबंध में नजीर है कि अधिक लंबे विलंब के कारण भी सांविधानिक अधिकारों के अतिक्रमण का स्वभावतः निष्कर्ष नहीं निकलता है तथापि, इस संबंध में भी नजीर है कि अत्यधिक विलंब अपने आप में शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिक्रमण गठित कर सकेगा । हमारी सुविचारित राय में, सहन किया जाने वाला विलंब मामले की जटिलता, सबूत की रीति तथा अभिकथित अपराध की गंभीरता के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है । यह पुनः प्रत्येक मामले पर निर्भर करता है । इस संबंध में

कोई सामान्य नियम नहीं हो सकता है। यह इस बात का अवधारण करते समय कि अभियुक्त के शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिक्रमण हुआ है अथवा नहीं, एक संतुलनकारी प्रक्रिया है। विलंब की मात्रा अपने आप में कोई महत्वपूर्ण कारक नहीं है।

22. प्रस्तुत मामले में, विलंब आपवादिक परिस्थितियों के कारण अनियमित है। यह अभियोजन पक्ष की असफलता के कारण या प्रक्रियागत असफलता द्वारा नहीं हुआ है किन्तु हम केवल यह कह सकते हैं कि विचारण को पूरा करने में हुई असफलता के लिए उचित कारण है और हमारी राय में, ऐसा विलंब अभियुक्त के शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिक्रमणकारी नहीं है।

23. विचारण न्यायालय के लिए सभी मामलों में कार्यवाहियों को समाप्त करने के लिए समय सीमा विहित करना या उसकी समाप्ति पर अभियुक्त को दोषमुक्त या उन्मोचित करना विधान बनाने की कोटि में आएगा जो कि सांविधानिक न्यायालयों को उपलब्ध न्यायिक विधि बनाने की शक्ति के कार्यक्षेत्र के भीतर न्यायिक निदेशों द्वारा नहीं किया जा सकता है, तथापि, न्यायालय अनुच्छेद 21, 32, 141 और 142 का उदारतापूर्वक निर्वचन कर सकते हैं [रामचन्द्र राव पी. बनाम कर्नाटक राज्य (उपर्युक्त)]। सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने इस प्रश्न पर इस न्यायालय के चार पूर्ववर्ती विनिश्चयों को उलट दिया : राज देव (II) बनाम बिहार राज्य¹, राज देव शर्मा बनाम बिहार राज्य², कामन काज़, एक रजिस्ट्रीकृत सोसायटी बनाम भारत संघ³। इन चार मामलों में समय सीमा ए. आर. अंतुले (उपर्युक्त) वाले मामले में पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ की मताभिव्यक्तियों के प्रतिकूल थी। रामचन्द्र राव पी. बनाम कर्नाटक राज्य (उपर्युक्त) वाले मामले में सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ के निर्णय का अनुसरण राज्य, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के माध्यम से बनाम डा. नारायण वामन नेरूकर (उपर्युक्त) और राजस्थान राज्य बनाम इकबाल हुसैन⁴ वाले मामलों में किया गया है। इसके आगे यह मत व्यक्त किया गया था कि समस्त दांडिक कार्यवाहियों के पूरा होने के लिए कोई ऊपरी सीमा विहित करना न तो उपयुक्त, साध्य और न ही न्यायिक रूप से

¹ (1999) 7 एस. सी. सी. 604.

² (1998) 7 एस. सी. सी. 507.

³ (1996) 4 एस. सी. सी. 33.

⁴ (2004) 12 एस. सी. सी. 499.

अनुज्ञेय है। यह दांडिक न्यायालय पर निर्भर करता है कि वह शीघ्र विचारण के अधिकार को कार्यान्वित करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 258, 309 और 311 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करे। समुचित मामले में समुचित अनुतोष की ईप्सा करने के लिए, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 और अनुच्छेद 226/227 के अधीन उच्च न्यायालय के निदेशों का अवलंब लिया जा सकता है।

24. स्थापित विधिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए और विशेष रूप से प्रस्तुत मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री टी. आर. अंध्यारुजिना द्वारा किए गए निवेदनों से सहमत नहीं हैं। मामले को समाप्त करने से पूर्व, हम विशेष रूप से अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा, जिनकी संख्या सात है, ईप्सित लंबे स्थगनों को ध्यान में रखते हुए यह कहना चाहते हैं कि अभियुक्त विलंब कारित करके शीघ्र विचारण के अधिकार का लाभ या फायदा नहीं ले सकते हैं और इसके बाद उस विलंब का प्रयोग अपने अधिकारों का दावा करने के लिए नहीं कर सकते हैं।

25. विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल ने हमारे समक्ष यह कहा कि कृपया इस बात पर विचार न किया जाए कि विचारण पूरा करने में विलंब किसने कारित किया बल्कि केवल इस बात पर विचार किया जाए कि क्या विचारण के पूरा करने में विलंब हुआ है और यदि ऐसा हुआ है तो विचारण पर बड़ा “पूर्णविराम” लगा दिया जाए। हमारी राय में, विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल की यह दलील पी. रामचन्द्र (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा की गई मताभिव्यक्तियों को ध्यान में रखते हुए हमारे द्वारा स्वीकार नहीं की जा सकती है। मामले को समाप्त करने से पूर्व, हमें अपने न्यायिक अधिकारियों को निश्चित रूप से श्रेय देना चाहिए जिन्होंने अभियुक्तों द्वारा लगभग सैंतीस वर्षों तक इन कार्यवाहियों को लटकाए रखने में अपनाई गई समस्त विलंबकारी चालों को झेला है। उन्हें बिल्कुल भी दोषी नहीं ठहराया जाना है। वास्तव में, वे इस प्रकार के विचारणों का संचालन करने के लिए प्रशंसा के पात्र हैं, जिनमें एक अभियुक्त न केवल विधि में बैचलर है बल्कि साहित्य में बैचलर भी है। हम निश्चयपूर्वक यह कथन करते हैं कि हमारी प्रणाली विफल नहीं हुई है बल्कि अभियुक्त इन कार्यवाहियों को उस प्रक्रम तक लटकाए रखने में सफल हुए हैं जहां यदि उसे और आगे खींचा जाता है तो इससे न्याय परिदान प्रणाली विफल हो सकती है। हमें इस तथ्य का भी भान है कि तीस से अधिक न्यायाधीशों ने किसी न किसी प्रक्रम पर इस मामले का विचारण किया था किन्तु इन सब

ने इस बात का ध्यान रखा है कि यह विचारण यथासंभव शीघ्र पूरा हो जाए। उन्हें दोषी नहीं ठहराया जाना है और निस्संदेह प्रणाली को भी दोषी नहीं ठहराया जाना है किन्तु, निश्चित रूप से कोई तो अपने प्रयास में सफल हुआ है। कार्यप्रणाली ने अपना कार्य बखूबी किया है किन्तु उससे प्रत्याशित परिणाम नहीं निकल सका है और यह निश्चित रूप से ऐसे मामलों के प्रवर्ग में नहीं आएगी जिसमें देश के एक अत्यंत उत्कृष्ट ज्येष्ठ अधिवक्ता (स्व.) एन. ए. पालखीवाला ने कहा था “....कानून चाहे मूर्ख हो या न हो किन्तु भारत में वह निश्चित रूप से कछुआ है और हमारे मामले ऐसी गति से आगे बढ़ते हैं जिसे कछुओं के समुदाय में असम्यक् रूप से धीमा माना जाएगा।” अतः, हमारा यह कहना है कि हम विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल के इस तर्क का समर्थन नहीं करेंगे कि इसमें प्रक्रियागत विफलता है। अतः, हमारी राय में, इस प्रक्रम पर एकमात्र यह निदेश जारी किया जाना ही आवश्यक है कि विद्वान् विचारण न्यायाधीश को यह निदेश दिया जाए कि इस मामले में दिन प्रतिदिन के आधार पर कार्यवाही की जाए और इन कार्यवाहियों को यथासंभव शीघ्र अनावश्यक और अवांछित स्थगन मंजूर किए बिना पूरा किया जाए।

26. तदनुसार, रिट याचिकाएं उपर्युक्त निदेशों के साथ खारिज की जाती हैं।

न्या. चन्द्रमौली कुमार प्रसाद

27. मैं सहमत हूँ।

28. तथापि, मैं अपने कुछ शब्द जोड़ना चाहूंगा।

29. केन्द्रीय रेल मंत्री ने उस बम धमाके में, जो तारीख 2 जनवरी, 1975 को बिहार राज्य में समस्तीपुर रेलवे स्टेशन पर हुआ था, अपनी जान गंवाई थी।

30. याचियों के विरुद्ध उक्त मामले में विचारण चल रहा है। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन उनके कथन लेखबद्ध कर लिए गए हैं और विचारण बहस के प्रक्रम पर है।

31. इस प्रक्रम पर, याचियों ने भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन ये रिट याचिकाएं फाइल की हैं और उनकी प्रार्थना यह है कि अभियोजन को प्रमुखतः भारत के संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन गारंटीकृत शीघ्र विचारण संबंधी उनके मूल अधिकार का अतिक्रमण करने के आधार पर अभिखंडित कर दिया जाए।

32. ऐसा प्रतीत होता है कि ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री टी. आर. अंध्यारुजिना रिट याचिकाओं के समर्थन में हैं। उसने यह दलील दी है कि विचारण के पूरा होने में 37 वर्ष का विलंब, चाहे वह किन्हीं भी कारणों से हुआ हो, घोर विलंब है और सभ्य समाज में इतनी लंबी अवधि के लिए विचारण चलते रहने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती है। उसने हमसे यह अपील की है कि इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए और यह अभिनिर्धारित करके इतिहास बनाना चाहिए कि वह कार्यप्रणाली जिसमें इतनी लंबी अवधि तक विचारण अनुज्ञात किया जाता है, बर्बर, अन्यायपूर्ण और नृशंस है और इसलिए श्री अंध्यारुजिना ने इस बात पर जोर दिया कि संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन गारंटीकृत शीघ्र विचारण के अधिकार की आड़ में प्रक्रियागत विलंब शीघ्र विचारण के अधिकार से इनकार करने के लिए एक बचाव नहीं हो सकता है।

33. मैंने इस दलील पर काफी सावधानीपूर्वक विचार किया है और एक बिन्दु पर मैं उसकी भावपूर्ण अपील का सम्मान करते हुए इस मुद्दे पर विस्तार से और नए सिरे से विचार करने के लिए तैयार था किन्तु **अब्दुल रहमान अंतुले** बनाम **आर. एस. नायक** (उपर्युक्त) वाले मामले में पांच न्यायाधीशों की संविधान पीठ के विनिश्चय और **पी. रामचन्द्र राव** बनाम **कर्नाटक राज्य** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के सात न्यायाधीशों की संविधान न्यायपीठ के निर्णय के कारण मुझे यह मार्ग खुला प्रतीत नहीं हुआ। न्यायिक अनुशासन हमसे विनिश्चयाधार का अनुसरण करने की प्रत्याशा करता है और ऐसा कोई सिद्धांत अधिकथित करने से प्रतिषिद्ध करता है जो इस न्यायालय की संविधान पीठों के पूर्ववर्ती विनिश्चयों द्वारा अधिकथित विनिश्चयाधार को अल्पीकृत करता है।

34. **अब्दुल रहमान अंतुले** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय ने पैरा 86(5) में निम्न प्रकार मत व्यक्त किया है :-

“इस बारे में अवधारण करते समय कि क्या असम्यक् विलंब हुआ है ? (जिसके परिणामस्वरूप शीघ्र विचारण के अधिकार का उल्लंघन हुआ है) सभी विद्यमान परिस्थितियों को जिनके अंतर्गत अपराध की प्रकृति, अभियुक्त और साक्षियों की संख्या, संबद्ध न्यायालय में कार्य का भार, विद्यमान स्थानीय दशाएं और आदि-आदि भी हैं जिन्हें सर्वांगीण विलंब कहा जाता है, ध्यान में रखना होगा। यह सत्य है कि यह राज्य का दायित्व है कि वह शीघ्र विचारण

सुनिश्चित करे और राज्य के अंतर्गत न्यायपालिका भी सम्मिलित है किन्तु ऐसे मामलों में पांडित्य प्रदर्शन की बजाय यथार्थवादी और व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए ।”

35. उपर्युक्त विनिश्चय पी. रामचन्द्र राव (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के सात न्यायाधीशों की संविधान पीठ के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत हुआ और इस न्यायालय ने उस विनिश्चयाधार का अनुमोदन करते समय पैरा 29(1) और (2) में निम्न प्रकार मत व्यक्त किया था :-

“29(1) ए. आर. अंतुले वाले मामले में किया गया निर्णय सही है और वह अब भी इस क्षेत्र में लागू होता है ।

(2) संविधान के अनुच्छेद 21 से उद्भूत होने वाली और ए. आर. अंतुले वाले मामले में दिशानिर्देशों के रूप में अधिकथित शीघ्र विचारण का अधिकार प्रतिपादित करने वाली प्रतिपादनाओं में शीघ्र विचारण के अधिकार का पर्याप्त रूप से ध्यान रखा गया है । हम उक्त प्रतिपादनाओं को कायम रखते हैं और उन्हें पुनः अभिपुष्ट करते हैं ।”

36. अतः, मेरी राय में, विचारण को मात्र विलंब के आधार पर उसके कारणों पर विचार किए बिना समाप्त नहीं किया जा सकता है ।

37. मेरे विद्वान् और योग्य बंधु ने विलंब के कारणों पर विचार किया है और मैं उनसे इस बारे में सहमत हूँ कि प्रस्तुत मामले के तथ्यों के आधार पर अभियोजन को अभिखंडित करना न्यायोचित नहीं है ।

रिट याचिकाएं खारिज की गईं ।

ग्रो.

भिमन्ना

बनाम

कर्नाटक राज्य

4 सितम्बर, 2012

न्यायमूर्ति पी. सदाशिवम् और न्यायमूर्ति बी. एस. चौहान

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 222, 125 से 217, 385, 386, 464 और 465 – आरोप विरचित करने में त्रुटि या लोप – यदि छोटे अपराध के लिए आरोप विरचित नहीं किया गया है और आरोपित अपराध में समाविष्ट छोटा अपराध साबित कर दिया गया है तब छोटे अपराध के लिए दंडित किया जा सकता है ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 378 और दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302 सपटित धारा 34 – दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील – मृतक पर अभियुक्त द्वारा प्राणघातक हमला किए जाने का अभिकथन – केवल एक अभियुक्त द्वारा प्राणघातक क्षति कारित किया जाना – अन्य दो अभियुक्तों द्वारा रक्तमय क्षति कारित किया जाना – सामान्य आशय का साबित न किया जाना – प्राणघातक क्षति कारित न करने वाले अभियुक्तों को हत्या के आरोप से दोषमुक्त किया जाना – अपील – सामान्य आशय न होने के संबंध में विचारण न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष को उलटे बिना अपील न्यायालय द्वारा इन अभियुक्तों को हत्या का दोषी ठहराना अनुचित है ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 302 और 304 भाग I – हत्या – आशय – अभियुक्त द्वारा मृतक पर प्राणघातक हमला किए जाने का अभिकथन – अचानक झगड़ा होने से घटना घटित होना क्योंकि अभियुक्त ने मृतक की भूमि में अतिचार किया था – मृतक के नीचे गिर जाने पर अभियुक्तों का हमला करने से रुक जाना और इसके पश्चात् सभी अभियुक्तों का वहां से चले जाना – अभियुक्तों के आचरण से स्पष्ट रूप से यह दर्शित होता है कि उनका आशय मृतक की हत्या करने का नहीं था और चूंकि घटना पूर्व-चिंतन करके घटित नहीं हुई है इसलिए अभियुक्तों को केवल धारा 304 भाग I के अधीन ही दोषसिद्ध किया जा सकता है ।

जिन तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर यह अपील फाइल की

गई है वे निम्न प्रकार हैं :- (क) अभियोजन पक्षकथन के अनुसार अभियुक्त येंकप्पा, अभियुक्त भिमन्ना का पिता है और सुगन्ना, येंकप्पा का भतीजा है । मृतक भीमन्ना येंकप्पा का भतीजा था । येंकप्पा के पास ग्राम बुद्दीनी, पुलिस थाना रामदुर्ग जिला रायचूर के राजस्व संपदा में मृतक भीमन्ना की भूमि के साथ लगी भूमि है । मृतक की भूमि को लेकर येंकप्पा और मृतक के बीच विवाद चल रहा था क्योंकि मृतक ने अपनी भूमि से होकर रास्ता बनाने का अधिकार देने से इनकार कर दिया था । इस प्रकार, ग्राम में पंचायत बैठाई गई जिसमें यह तय किया गया कि कोई भी पक्ष अन्य पक्ष की भूमि का प्रयोग रास्ता बनाने के लिए नहीं करेगा । एक दिन येंकप्पा कृषि उपकरणों अर्थात् कुल्हाड़ी और हल लेकर भिमन्ना और सुगन्ना के साथ घर वापस आ रहा था । वे मृतक की भूमि में से होकर गुजरे । मृतक भीमन्ना ने, जो अपनी पत्नी पदम्मा (अभि. सा. 1) और माता अर्थात् भीमावा के साथ अपने खेत (भूमि) में मौजूद था, अभियुक्तों को अपने खेत से होकर गुजरने के लिए मना किया । येंकप्पा गालियां देने लगा और उसने भिमन्ना और सुगन्ना को मृतक पर हमला करने के लिए उकसाया । इस प्रकार भिमन्ना और सुगन्ना ने मृतक के सिर और उसके दाएं हाथ पर कुल्हाड़ी से हमला किया । येंकप्पा ने मृतक पर मेली (हल का लकड़ी वाला भाग) से हमला किया । पदम्मा (अभि. सा. 1) और मृतक की माता भीमावा मृतक को बचाने गईं किंतु उन्हें भी हमला किए जाने की धमकी दी गई । ऐसे ही धमकी तब दी गई जब मृतक का भतीजा रंगैया (अभि. सा. 6) और उसका पिता हनुमप्पा घटनास्थल पर पहुंचे थे । अभियुक्त मृतक पर हमला करने के पश्चात् कुल्हाड़ी और हल के लकड़ी वाले भाग को फेंककर वहां से चले गए । पदम्मा (अभि. सा. 1) के कहने पर रंगैया (अभि. सा. 6) ग्राम से बैलगाड़ी ले आया और इसके पश्चात् मृतक को रामदुर्ग पुलिस थाने ले जाया गया । पुलिस की सलाह पर, मृतक सामान ढोने वाली एक छोटी गाड़ी से, जिसे महादेवप्पा (अभि. सा. 10) चला रहा था, देवदुर्ग अस्पताल पहुंचाया गया और जब वे वहां पहुंचे तो डाक्टर ने भीमन्ना को मृत घोषित कर दिया । पदम्मा द्वारा दर्ज कराई गई शिकायत के आधार पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 143, 147, 148, 302, 323 और 504 के अधीन दर्ज कराई गई । मामले का अन्वेषण सर्किल निरीक्षक राजशेखर (अभि. सा. 14) द्वारा किया गया । मृतक के शव की मृत्यु-समीक्षा बसावाराजैया (अभि. सा. 2) सहित पंचों की उपस्थिति में की गई । डा. पाटिल प्रभाकर (अभि. सा. 12) द्वारा शवपरीक्षण कराया गया । अन्वेषक अधिकारी ने अपराध में प्रयोग की

गई कुल्हाड़ी और हल का लकड़ी वाले भाग बरामद किया और इन वस्तुओं को परीक्षण के लिए न्यायालयिक प्रयोगशाला भेज दिया, इसके पश्चात् तीनों अपीलार्थियों को गिरफ्तार किया गया । अन्वेषण पूरा किए जाने के पश्चात्, अपीलार्थियों के विरुद्ध दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447, 504, 302 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए आरोपपत्र फाइल किया गया । विद्वान् सेशन न्यायाधीश ने अपने निर्णय और आदेश द्वारा भिमन्ना को दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447, 504, 302 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए दोषसिद्ध किया और उसे 2,000/- रुपए के जुर्माने के साथ आजीवन कारावास अधिनिर्णीत किया । जहां तक येंकप्पा सुगन्ना का संबंध है, उन्हें केवल दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447 और 504 के अधीन दोषसिद्ध किया । इस आदेश से व्यथित होकर, भिमन्ना ने दांडिक अपील प्रस्तुत की और कर्नाटक राज्य ने येंकप्पा और सुगन्ना के विरुद्ध दांडिक अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने भिमन्ना की अपील खारिज की और राज्य की अपील मंजूर करते हुए येंकप्पा और सुगन्ना को दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया । इन अपीलों का निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – विचारण न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अभियुक्तों का एकमत नहीं था और तीनों अपीलार्थियों ने कोई भी सामान्य आशय को अग्रसर करने में कार्य नहीं किया है । अतः येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) को दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध नहीं किया जा सका और उन्हें केवल दंड संहिता की धारा 447 और 504 के अधीन ही दोषसिद्ध किया गया और उन्हें विचारण के दौरान अभिरक्षा में बिताए गए समय को गणना में लेते हुए दंडादेश अधिनिर्णीत किया । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में सुस्पष्ट गलती की है कि इस तथ्य के बावजूद कि दो अभियुक्त क्षति सं. 2 से 11 कारित करने के लिए स्पष्ट रूप से जिम्मेदार हैं फिर भी उन्हें किसी भी अपराध के लिए, अन्य किसी दांडिक उपबंध के अधीन आरोप विरचित किए जाने के अभाव में, दोषसिद्ध नहीं किया जा सका । ऐसी स्थिति में, विचारण न्यायालय के लिए आवश्यक आरोपों में परिवर्तन/परिवर्धन करना न्यायोचित होता या ऐसा परिवर्तन/परिवर्धन किए बिना भी क्षतियों की गंभीरता पर विचार करते हुए उन्हें उक्त अपराधों के लिए दंडित करना न्यायोचित होता क्योंकि दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध की अपेक्षा छोटे अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जा सकता था । (पैरा 23)

उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) के विरुद्ध धारा 302/34 के अधीन आरोप विरचित किया गया है, उन्हें भी धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया जाना चाहिए था। यह निष्कर्ष न्यायोचित नहीं है, क्योंकि उच्च न्यायालय ने विचारण द्वारा अभिलिखित इस निष्कर्ष को नहीं उलटा है कि तीनों अभियुक्तों ने किसी भी सामान्य आदेश को अग्रसर करने में कार्य नहीं किया है। (पैरा 24)

न्यायालय ने क्षतियों की संख्या और उनकी गंभीरता पर विचार किया है साथ ही प्रत्येक अपीलार्थी द्वारा अपराध में निभाई गई भूमिका पर भी विचार किया है। अभिलेख पर पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है विशेषकर मृतक की पत्नी पदम्मा (अभि. सा. 1) का अभिसाक्ष्य जिससे यह दर्शित होता है कि जब उसका पति उक्त क्षतियों के कारण नीचे गिर गया था, तब अभियुक्तों ने उस पर हमला करना बंद कर दिया था। भिमन्ना (अभियुक्त-2) ने 'मेली' फेंक दी थी और सभी अभियुक्त यह कहते हुए घटनास्थल से चले गए कि आहत नीचे गिर गया है। इससे स्पष्ट रूप से यह सिद्ध होता है कि अपीलार्थियों का आशय मृतक की हत्या करने का नहीं था और यह सब मृतक की भूमि में अपीलार्थियों द्वारा अतिचार किए जाने के पश्चात् दोनों पक्षों के बीच हुई गरमा-गरमी के कारण क्षण भर की उत्तेजना में घटित हुआ। अतः, यह घटना पूर्व नियोजित या पूर्व-चिंतन की गई प्रतीत नहीं होती है। अतः यदि तीनों अभियुक्तों को दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 304 भाग I के अधीन दोषसिद्ध किया जाए और तदनुसार दंड अधिनिर्णीत किया जाए तो न्याय का उद्देश्य पूरा होगा। परिणामतः, सभी अपीलार्थियों को दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447, 504 और 304 भाग I के अधीन दोषसिद्ध किया जाता है। (पैरा 25)

अवलंबित निर्णय

पैरा

[2004] ए. आई. आर. 2004 एस. सी. 2078 :
हसनभाई वलीभाई कुरैशी बनाम गुजरात राज्य । 15

निर्दिष्ट निर्णय

[2012] ए. आई. आर. 2012 एस. सी. 1485 :
रतीराम और अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य द्वारा
पुलिस निरीक्षक ; 21

[2011]	ए. आई. आर. 2011 एस. सी. 3114 : रफीक अहमद उर्फ रफी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य ;	21
[2010]	(2010)10 एस. सी. 259 : अब्दुल सईद बनाम मध्य प्रदेश राज्य ;	19
[2010]	ए. आई. आर. 2010 एस. सी. 3786 : सनीचर साहनी बनाम बिहार राज्य ;	19
[2006]	ए. आई. आर. 2006 एस. सी. 191 : गुरप्रीत सिंह बनाम पंजाब राज्य ;	19
[2004]	ए. आई. आर. 2004 एस. सी. 5117 : राज्य द्वारा पुलिस निरीक्षक बनाम टी. वेंकटेश मूर्ति ;	21
[2001]	ए. आई. आर. 2001 एस. सी. 3853 : रामजी सिंह और एक अन्य बनाम बिहार राज्य ;	19
[2001]	ए. आई. आर. 2001 एस. सी. 921 : शमनसाहेब एम. मुल्तानी बनाम कर्नाटक राज्य ;	20
[1998]	ए. आई. आर. 1998 एस. सी. 2702 : आंध्र प्रदेश राज्य बनाम थक्कीदीरम रेड्डी ;	19
[1973]	ए. आई. आर. 1973 एस. सी. 2221 : अमर सिंह बनाम हरियाणा राज्य ;	18
[1973]	ए. आई. आर. 1973 एस. सी. 165 : नागेश्वर श्री कृष्ण घोबे बनाम महाराष्ट्र राज्य ;	21
[1970]	ए. आई. आर. 1970 एस. सी. 359 : कांतिलाल चंदूलाल मेहता बनाम महाराष्ट्र राज्य और एक अन्य ;	17
[1967]	ए. आई. आर. 1967 एस. सी. 1326 : फखरुद्दीन बनाम मध्य प्रदेश राज्य ;	19
[1956]	ए. आई. आर. 1956 एस. सी. 116 : विल्ली (विलियम) स्लेनी बनाम मध्य प्रदेश राज्य ;	19
[1956]	ए. आई. आर. 1956 एस. सी. 33 : तोपनदास बनाम मुंबई राज्य ।	19

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2005 की दांडिक अपील सं. 46.

2001 की दांडिक अपील सं. 839 में कर्नाटक उच्च न्यायालय, बंगलुरु के तारीख 31 मार्च, 2004 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से	सर्वश्री बसावा प्रभु एस. पाटिल (वरिष्ठ अधिवक्ता), बी. सुब्रह्मण्य प्रसाद, वेंकटकृष्णा के. और ए. एस. भस्में
प्रत्यर्थी की ओर से	सर्वश्री वी. एन. रघुपति और शिवपति बी. पांडेय

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति बी. एस. चौहान ने दिया ।

न्या. चौहान – ये दोनों अपीलें कर्नाटक उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए तारीख 31 मार्च, 2004 के उस आक्षेपित निर्णय के विरुद्ध फाइल की गई हैं जिसके द्वारा 2001 की दांडिक अपील सं. 839 को खारिज करते हुए राज्य द्वारा फाइल की गई 2001 की दांडिक अपील सं. 1132 को मंजूर किया गया है । उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय द्वारा भारतीय दंड संहिता, 1860 (जिसे संक्षेप में ‘दंड संहिता’ कहा गया है) की धारा 302 के अधीन किए गए दोषसिद्धि के आदेश के विरुद्ध अपीलार्थी भिमन्ना की अपील खारिज की है किंतु 2005 की दांडिक अपील सं. 171 में के अपीलार्थियों के विरुद्ध फाइल की गई राज्य की अपील मंजूर की है और आजीवन कारावास अधिनिर्णीत किया है और राज्य द्वारा फाइल की गई यह अपील विचारण न्यायालय के उस निर्णय के विरुद्ध थी जिसके द्वारा विचारण न्यायालय ने दंड संहिता की धारा 302 के अधीन आरोपों से अपीलार्थियों को दोषमुक्त किया था ।

2. जिन तथ्यों और परिस्थितियों के आधार पर यह अपील फाइल की गई है वे निम्न प्रकार हैं :-

(क) अभियोजन पक्षकथन के अनुसार, येंकप्पा (अभियुक्त-1) जो 2005 की दांडिक अपील सं. 171 में का अपीलार्थी है और भिमन्ना (अभियुक्त-2) का पिता है और भिमन्ना 2005 की दांडिक अपील सं. 46 में का अपीलार्थी है और सुगन्ना (अभियुक्त-3) येंकप्पा (अभियुक्त-1) का भतीजा है । मृतक भीमन्ना येंकप्पा (अभियुक्त-1) का भतीजा था । येंकप्पा (अभियुक्त-1) के पास ग्राम बुद्दीनी, पुलिस

थाना रामदुर्ग जिला रायचूर के राजस्व संपदा में मृतक भीमन्ना की भूमि के साथ लगी भूमि है । मृतक की भूमि को लेकर येंकप्पा और मृतक के बीच विवाद चल रहा था क्योंकि मृतक ने अपनी भूमि से होकर रास्ता बनाने का अधिकार देने से इनकार कर दिया था । इस प्रकार, ग्राम में पंचायत बैठाई गई जिसमें यह तय किया गया कि कोई भी पक्ष अन्य पक्ष की भूमि का प्रयोग रास्ता बनाने के लिए नहीं करेगा ।

(ख) तारीख 17 नवंबर, 1999 को लगभग 4.00 बजे अपराह्न में येंकप्पा (अभियुक्त-1) कृषि उपकरणों अर्थात् कुल्हाड़ी और हल लेकर भिमन्ना (अभियुक्त-2) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) के साथ घर वापस आ रहा था । वे मृतक की भूमि में से होकर गुजरे । मृतक भीमन्ना ने, जो अपनी पत्नी पदम्मा (अभि. सा. 1) और माता अर्थात् भीमावा के साथ अपने खेत (भूमि) में मौजूद था, अभियुक्तों को अपने खेत से होकर गुजरने के लिए मना किया । येंकप्पा (अभियुक्त-1) गालियां देने लगा और उसने भिमन्ना (अभियुक्त-2) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) को मृतक पर हमला करने के लिए उकसाया । इस प्रकार भिमन्ना (अभियुक्त-2) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) ने मृतक के सिर और उसके दाएं हाथ पर कुल्हाड़ी से हमला किया । येंकप्पा (अभियुक्त-1) ने मृतक पर मेली (हल का लकड़ी वाला भाग) से हमला किया । पदम्मा (अभि. सा. 1) और मृतक की माता भीमावा मृतक को बचाने गईं किंतु उन्हें भी हमला किए जाने की धमकी दी गई । ऐसे ही धमकी तब दी गई जब मृतक का भतीजा रंगैया (अभि. सा. 6) और उसका पिता हनुमप्पा घटनास्थल पर पहुंचे थे । अभियुक्त मृतक पर हमला करने के पश्चात् कुल्हाड़ी और हल के लकड़ी वाले भाग को फेंककर वहां से चले गए । पदम्मा (अभि. सा. 1) के कहने पर रंगैया (अभि. सा. 6) ग्राम से बैलगाड़ी ले आया और इसके पश्चात् मृतक को रामदुर्ग पुलिस थाने ले जाया गया । पुलिस की सलाह पर, मृतक सामान ढोने वाली एक छोटी गाड़ी से, जिसे महादेवप्पा (अभि. सा. 10) चला रहा था, देवदुर्ग अस्पताल पहुंचाया गया और जब 8.00 बजे अपराह्न में वे वहां पहुंचे तो डाक्टर ने भीमन्ना को मृत घोषित कर दिया । पदम्मा (अभि. सा. 1) द्वारा दर्ज कराई गई शिकायत के आधार पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट 8.15 बजे अपराह्न में दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 143, 147, 148, 302, 323 और 504 के अधीन दर्ज कराई गई ।

मामले का अन्वेषण सर्किल निरीक्षक राजशेखर (अभि. सा. 14) द्वारा किया गया ।

(ग) मृतक के शव की मृत्युसमीक्षा बसावाराजैया (अभि. सा. 2) सहित पंचों की उपस्थिति में की गई । डा. पाटिल प्रभाकर (अभि. सा. 12) द्वारा शवपरीक्षण कराया गया । अन्वेषक अधिकारी ने अपराध में प्रयोग की गई कुल्हाड़ी और हल का लकड़ी वाले भाग बरामद किया और इन वस्तुओं को परीक्षण के लिए न्यायालयिक प्रयोगशाला भेज दिया, इसके पश्चात् तीनों अपीलार्थियों को गिरफ्तार किया गया । अन्वेषण पूरा किए जाने के पश्चात्, अपीलार्थियों के विरुद्ध दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447, 504 और 302 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए आरोप पत्र फाइल किया गया ।

(घ) 2000 के सेशन मामला सं. 40 में विचारण पूरा किए जाने पर, विद्वान् सेशन न्यायाधीश ने तारीख 19 जून, 2001 के निर्णय और आदेश द्वारा भिमन्ना (अभियुक्त-2) को दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447, 504 और 302 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए दोषसिद्ध किया और उसे 2,000/- रुपए के जुर्माने के साथ आजीवन कारावास अधिनिर्णीत किया । जहां तक येंकप्पा (अभियुक्त-1) सुगन्ना (अभियुक्त-3) का संबंध है, उन्हें केवल दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447 और 504 के अधीन दोषसिद्ध किया ।

(ङ) इस आदेश से व्यथित होकर, भिमन्ना (अभियुक्त-2) ने 2001 की दांडिक अपील सं. 839 प्रस्तुत की और कर्नाटक राज्य ने येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) के विरुद्ध 2001 की दांडिक अपील सं. 1132 फाइल की । उच्च न्यायालय ने भिमन्ना (अभियुक्त-2) की अपील खारिज की और राज्य की अपील मंजूर करते हुए येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) को दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया । इसीलिए ये अपीलें फाइल की गई हैं ।

3. अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् वरिष्ठ काउंसेल श्री बसावा प्रभु एस. पाटिल ने यह दलील दी है कि भीमन्ना (अभि. सा. 2) को दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 के अधीन निचले न्यायालयों द्वारा गलत दोषसिद्ध किया गया है क्योंकि अभियोजन पक्ष मामले की उत्पत्ति को समुचित रूप से स्पष्ट करने में असफल रहा है । मृतक भीमन्ना के पास अभियुक्त-2 की भूमि के निकट कोई भी भूमि नहीं

थी। अतः, विवाद का कोई भी प्रश्न नहीं उठता है। यही बात तर्कसम्मत साक्ष्य द्वारा साबित की गई है और निचले न्यायालय सही परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन करने में असफल रहे हैं। साक्षियों विशेषकर पदम्मा (अभि. सा. 1) और रंगैया (अभि. सा. 6) की मौजूदगी संदिग्ध है जिसका यह कारण है कि पदम्मा (अभि. सा. 1) ने इस घटना की तारीख से ठीक एक मास पूर्व लड़की को जन्म दिया था, और यह बात अत्यंत असंभावी है कि ऐसी शारीरिक दशा में वह कृषि संबंधी कोई कार्य कर पाती। मृतक की माता भीमावा वास्तव में घटनास्थल पर मौजूद थी जिसकी परीक्षा अभियोजन पक्ष द्वारा नहीं की गई है। इस प्रकार, अभियोजन पक्ष महत्वपूर्ण साक्षी को प्रस्तुत न करने का दोषी है। रंगैया (अभि. सा. 6) घटनास्थल पर मौजूद हो ही नहीं सकता था क्योंकि घटनास्थल के निकट उसकी भूमि नहीं है। इसके अतिरिक्त, किया गया हमला पूर्व नियोजित नहीं है और यह घटना स्पष्ट रूप से अचानक घटित हुई है। अपराध में प्रयोग किए गए हथियार कृषि संबंधी उपकरण हैं जिनसे अपीलार्थी अपने खेतों में कार्य कर रहे थे। जहां तक येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) की दोषमुक्ति का संबंध है इस न्यायालय द्वारा इस संबंध में अधिकथित मापदंडों को लागू किए बिना, उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय के निर्णय को उलट दिया है। उच्च न्यायालय ने अभियुक्त-1 और अभियुक्त-3 को दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए दोषसिद्ध करने में गलती की है क्योंकि दर्शित करने के लिए ऐसा कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है कि सभी अभियुक्तों ने सामान्य आशय को अग्रसर करने में कार्य किया है। इस प्रकार, दंड संहिता की धारा 302 के अधीन किसी भी अपीलार्थी की दोषसिद्धि न्यायोचित नहीं है और अपीलें मंजूर किए जाने योग्य हैं।

4. इसके प्रतिकूल, राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् स्थायी काउंसेल ने यह दलील देते हुए अपीलों का विरोध किया है कि उच्च न्यायालय के निर्णय में कोई भी कमी नहीं है। अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्य का पुनर्मूल्यांकन करने के पश्चात्, उच्च न्यायालय ने ठीक निष्कर्ष निकाला है कि तीनों अपीलार्थी भीमन्ना का मानव वध करने के लिए जिम्मेदार हैं। मृतक को 12 क्षतियां पहुंची हैं। डा. पाटिल प्रभाकर (अभि. सा. 12) की राय के अनुसार यह संभव है कि क्षति सं. 1 और क्षति सं. 12 भिमन्ना (अभियुक्त-2) द्वारा कारित की गई हैं, और इस प्रकार स्वाभाविक परिणाम के रूप में क्षति सं. 2 से 11 येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) द्वारा कारित की गई हैं। इस प्रकार, इन

अभियुक्तों को उक्त क्षतियों के लिए दोषसिद्ध नहीं ठहराना और उनकी दोषसिद्धि को दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447 और 504 के अधीन ही सीमित करना न्यायोचित नहीं हो सकता। विचारण न्यायालय के विनिश्चय को इस आधार पर न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है कि अभियुक्त-1 और अभियुक्त-3 के विरुद्ध विचारण न्यायालय द्वारा उन अपराधों के लिए आरोप विरचित नहीं किए गए थे जिनका उल्लेख अन्वेषक अधिकारी द्वारा आरोप पत्र में किया गया था। उच्च न्यायालय ने येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) को दंड संहिता की धारा 302/34 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए ठीक ही दोषसिद्ध किया है। अपीलों में गुणता का अभाव है और ये खारिज किए जाने योग्य हैं।

5. हमने पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउंसलों द्वारा किए गए परस्पर विरोधी निवेदनों पर विचार किया है और अभिलेख का परिशीलन किया है।

6. शवपरीक्षण किए जाने पर मृतक भीमन्ना के शव पर निम्न क्षतियां पाई गई हैं :-

1. सिर के मध्य में मस्तिष्क की गहराई तक 3 इंच x 0.74 इंच माप का छिन्न घाव। घाव के किनारे बाहर की ओर उलटे हुए हैं, रक्त का थक्का बना हुआ है और मस्तिष्क का गूदा मौजूद है। करोटि में नीचे की ओर अस्थिभंग है जो स्पष्ट है।

2. अग्रबाहु के पृष्ठ तल पर दाईं कलाई के जोड़ से 2.5 इंच की दूरी पर एक छिन्न घाव है जिसकी दिशा अनुप्रस्थ है। इस घाव का आकार 3 इंच x 0.5 इंच है और इसकी गहराई मांसपेशी तक है। रक्त का थक्का मौजूद है, घाव के किनारे बाहर की ओर उलटे हुए और स्पष्ट है।

3. बाएं शंखीए जम्बिका क्षेत्र में 1 इंच x 0.5 इंच माप का विदीर्ण घाव है जिसकी गहराई मांसपेशी तक है। घाव में रक्त थक्का मौजूद है।

4. बाएं बाह्यकर्ण के पीछे की ओर 1 इंच x 0.5 इंच माप का विदीर्ण घाव जिसकी गहराई मांसपेशी तक है। इस घाव में रक्त का थक्का मौजूद है।

5. बाएं कंधे के नीचे की ओर बाहु में 5 इंच x 1 इंच माप का गुमटा बना हुआ है।

6. बाएं कंधे में 3 इंच x 1 इंच माप का गुमटा बना हुआ है जो नीचे की ओर तिरछा है ।

7. अग्रबाहु के मध्य में आगे की ओर 3 इंच x 0.5 इंच माप का विदीर्ण घाव है जिसकी गहराई मांसपेशी तक है ।

8. दाईं टांग के मध्य में आगे की ओर एक विदीर्ण घाव है जिसकी माप 1 इंच x 0.5 इंच है और इस घाव की गहराई मांसपेशी तक है, घाव में रक्त के थक्के मौजूद हैं ।

9. पीठ के बाईं ओर 3 इंच x 2 इंच माप का गुमटा बना हुआ है जिसकी दिशा तिरछी है ।

10. वक्ष के दाएं पार्श्विक भाग (कुक्षि) में 3 इंच x 0.5 इंच माप का गुमटा मौजूद है ।

11. दाएं घुटने के मध्य में 2 इंच x 0.5 इंच माप का विदीर्ण घाव मौजूद है जिसकी गहराई मांसपेशी तक है । घाव में रक्त के थक्के मौजूद हैं ।

12. वक्ष के बाईं ओर निचले अंतिम भाग में 3 इंच x 0.5 इंच माप का गुमटा मौजूद है ।

विच्छेदन करने पर, डा. पाटिल प्रभाकर (अभि. सा. 12) ने निम्नलिखित क्षतियां पाईं –

1. ललाटीय मध्यकपालीय अस्थि में अस्थिभंग पाया गया है, 1 इंच x 0.25 इंच माप का घाव मौजूद है और इस घाव की गहराई मस्तिष्क तक है, मस्तिष्क का गूदा दृश्यमान है और बाहर निकला हुआ है । करोटि में नीचे की ओर अस्थिभंग है, मस्तिष्क विदीर्ण है और इस घाव की माप 0.5 इंच x 0.5 इंच है तथा इसकी गहराई 1 इंच है ।

2. नवीं और दसवीं वक्षीय पसलियों में आगे की ओर मध्य भाग में अस्थिभंग है । फेफड़े के निचले पिण्ड में 1.5 इंच x 0.5 इंच माप का विदीर्ण घाव है । वक्ष में लगभग 200 मिलीलीटर रक्त मौजूद है ।

7. जहां तक क्षतियों का संबंध है डा. पाटिल प्रभाकर (अभि. सा. 2) ने अपनी प्रतिपरीक्षा में यह स्पष्ट किया है कि क्षति सं. 1 और 12 गंभीर प्रकृति की हैं और वास्तव में मृतक भीमन्ना की मृत्यु इन्हीं क्षतियों के

कारण हुई है। विदीर्ण क्षतियों की संख्या पांच है, यद्यपि ये क्षतियां साधारण प्रकृति की हैं और ये कुल्हाड़ी के कुंद भाग या उंडे से कारित नहीं की जा सकती थीं।

8. पदम्मा (अभि. सा. 1) ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि उसके पति के पास भूमि थी जो अभियुक्त-2 की भूमि के बराबर में है। उन दोनों के बीच रास्ते को लेकर विवाद चल रहा था। इस विवाद को निपटाने के लिए पंचायत बिठाई गई और पक्षकारों को एक-दूसरे की भूमि का प्रयोग रास्ते के रूप में करने से रोका गया। इस साक्षी ने यह कथन किया है कि तारीख 17 नवम्बर, 1999 को वह अपने पति और सास के साथ खेत में काम कर रही थी। लगभग 4.00 बजे अपराह्न में अभियुक्त व्यक्ति बराबर के खेतों में अपना काम समाप्त करने के पश्चात् जब ग्राम की ओर जा रहे थे तब उन्होंने इस साक्षी की भूमि से होकर गुजरना चाहा। उसके पति ने आपत्ति की। इसके पश्चात्, येकप्पा (अभियुक्त-1) मृतक को गालियां देने लगा और उसने अन्य अभियुक्तों को मृतक पर हमला करने के लिए उकसाया। अपीलार्थियों ने कुल्हाड़ियों और हल के लकड़ी वाले भाग का प्रयोग उसके पति को क्षति पहुंचाने के लिए किया। परिणामस्वरूप उसका पति नीचे गिर गया। जब उसने अपने पति को बचाने का प्रयास किया, अपीलार्थियों ने उसे भी धमकी दी। तथापि, जब उसका पति नीचे गिर गया तो उन्होंने हमला करना बंद कर दिया। अभियुक्त - 2 ने 'मेली' (हल के पीछे का लकड़ी वाला भाग) फेंक दी और अभियुक्त यह कहते हुए घटनास्थल से चले गए कि आहत गिर गया है। रंगैया (अभि. सा. 6) जो उक्त स्थान पर आया था, से ग्राम जाने के लिए बैलगाड़ी लाने को कहा गया जिसमें वे मृतक को पुलिस थाने ले गए। पुलिस की सलाह पर मृतक को अस्पताल ले जाया गया, जहां उसे मृत घोषित कर दिया गया। इस साक्षी ने अपनी प्रतिपरीक्षा में यह भी स्वीकार किया है कि घटनास्थल उसके घर से लगभग एक किलोमीटर की दूरी पर है और यह भी स्वीकार किया है कि उसने इस घटना के घटित होने के एक मास पूर्व लड़की को जन्म दिया था। इस साक्षी की माता, जो घटनास्थल पर मौजूद थी, दृष्टिविकार से पीड़ित थी और वह वृद्धावस्था होने के कारण ठीक प्रकार से देखने की स्थिति में नहीं थी।

9. इसके पश्चात् रंगैया (अभि. सा. 6) ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि वह मृतक का चचेरा भाई है और वह अपने खेत में काम कर रहा था। अपीलार्थी और मृतक के बीच मृतक की भूमि का प्रयोग रास्ते के रूप में

किए जाने के संबंध में विवाद चल रहा था । इस साक्षी ने अपीलार्थियों को मृतक को क्षति कारित करते हुए देखा है और इस साक्षी के साक्ष्य से पदम्मा (अभि. सा. 1) द्वारा दिए गए घटना के वृत्तांत की संपुष्टि होती है । रंगैया (अभि. सा. 6) ने अपनी प्रतिपरीक्षा में यह भी कथन किया है कि अभियुक्तों ने न्यायालय में उपर्युक्त भूमि विवाद को लेकर मृतक के विरुद्ध मामला फाइल किया हुआ है ।

10. लोक निर्माण विभाग के कनिष्ठ अभियंता वैकट राव (अभि. सा. 8) ने राजस्व अभिलेख का निरीक्षण और परीक्षण करने के पश्चात् उस क्षेत्र का स्थल नक्शा तैयार किया है जिसमें यह दर्शाया गया है कि वास्तव में मृतक और अपीलार्थियों की भूमि एक दूसरे के बहुत निकट है और केवल बंड द्वारा ही विभाजित की हुई है ।

11. विचारण न्यायालय ने अभिलेख पर प्रस्तुत साक्ष्य का मूल्यांकन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि तीनों अभियुक्तों (अभियुक्त-1 से अभियुक्त-3) ने किसी भी सामान्य आशय को अग्रसर करने में कार्य नहीं किया है । भिमन्ना (अभियुक्त-2) ही मृतक की मृत्यु कारित करने के लिए जिम्मेदार है । अतः, केवल भीमन्ना को दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया जा सकता है और इसके अतिरिक्त दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447 और 504 के अधीन भी दोषसिद्ध किया जा सकता है । तथापि, येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) ने भिमन्ना (अभियुक्त-2) के साथ किसी भी सामान्य आशय के बिना कार्य किया है । इस प्रकार, उन्हें दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध नहीं किया जा सकता है और केवल दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447 और 504 के अधीन ही दोषसिद्ध किया जा सकता है । न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया है कि येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) को क्षति सं. 2 से 11 कारित करने के अपराध के लिए भी दोषसिद्ध किया जा सकता है किंतु दंड संहिता की धारा 323, 324, 325, 326 और 327 के अधीन इस संबंध में कोई भी आरोप विरचित नहीं किया गया है । अतः, इस अपराध के लिए उन्हें कोई भी दंड नहीं दिया जा सकता है । विचारण न्यायालय ने निम्न अभिनिर्धारित किया है :-

“अभियोजन पक्ष ने दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 के अधीन केवल भीमन्ना के विरुद्ध आरोप साबित किया है और इसके अतिरिक्त दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा

447 और 504 के अधीन अन्य आरोप येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) के विरुद्ध साबित किए हैं। यद्यपि इस न्यायालय ने यह स्वीकार किया है कि अभियुक्त-1 और अभियुक्त-3 ने क्रमशः तात्त्विक वस्तु-1 से तात्त्विक वस्तु-3 से भी मृतक पर हमला किया है फिर भी वे हमले मृतक भीमन्ना की मृत्यु का सीधा परिणाम नहीं है। इसके अतिरिक्त, आरोपपत्र में इन अभियुक्तों के विरुद्ध दंड संहिता की धारा 323, 324, 325, 326 या 327 जैसे आरोपों का कोई भी निगमन नहीं है। इस प्रकार, घातक हथियारों से अभियुक्त-1 और अभियुक्त-3 द्वारा रक्तमय क्षतियां कारित करने के संबंध में ऐसे विशिष्ट आरोप के अभाव में, यह न्यायालय इन अभियुक्तों को ऐसे किसी भी आरोप के अधीन दोषसिद्ध नहीं कर सकता जिसका स्वीकृत रूप से आरोप पत्र में निगमन नहीं किया गया है और जिन्हें इस न्यायालय द्वारा उनके विरुद्ध विरचित नहीं किया गया है।” (मोटे शब्दों पर बल दिया गया है)

12. उच्च न्यायालय ने, विचारण न्यायालय द्वारा अभिलिखित इस निष्कर्ष को उलटे बिना कि मृतक को ऐसी गंभीर क्षतियां कारित किए जाने के संबंध में सभी अभियुक्तों का एक उद्देश्य नहीं था, यह अभिनिर्धारित किया है कि येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) को भी दंड संहिता की धारा 302/34 के अधीन आरोपित किया गया है, इन अभियुक्तों को भी दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया जा सकता था और राज्य की अपील मंजूर करते हुए अभियुक्तों को दंड संहिता की धारा 302/34 के अधीन दोषसिद्ध किया। उच्च न्यायालय ने निम्न अभिनिर्धारित किया है :-

“उपरोक्त को दृष्टिगत करते हुए हमारा यह स्पष्ट मत है कि विचारण न्यायालय ने यद्यपि ठीक ही अभिनिर्धारित किया है कि सभी अभियुक्तों ने दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447 और 504 के अधीन दंडनीय अपराध कारित किए हैं और अभियुक्त-2 ने दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया है, फिर भी यह गलत अभिनिर्धारित किया गया है कि **अभियुक्त-1 और अभियुक्त-3 को दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय हत्या के अपराध के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता है**, जबकि अभियोजन पक्ष द्वारा दंड संहिता की धारा 34 का अवलंब लिया गया है। अतः जहां तक दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा

302 के अधीन अपराध के लिए अभियुक्त-1 और अभियुक्त-3 के दोषी होने का संबंध है, हम आक्षेपित निर्णय के पैरा 36 से 39 में की गई मताभिव्यक्तियों और विचारण न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्षों से सहमत नहीं हैं ।

परिणामतः पूर्वगामी कारणों के आधार पर अभियुक्त द्वारा फाइल की गई दांडिक अपील सं. 839/2001 खारिज की जाती है, राज्य की ओर से फाइल की गई दांडिक अपील सं. 1132/2001 मंजूर की जाती है और **अभियुक्त-1 और अभियुक्त-3 को दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए दोषी ठहराया जाता है** और तदनुसार, दोषसिद्ध किया जाता है और अभियुक्त-2 की भांति आजीवन कारावास भोगने का दंडादेश दिया जाता है ।”

(मोटे शब्दों पर बल दिया गया)

13. इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि निचले दोनों न्यायालयों ने अभिलेख पर उपलब्ध साक्ष्य का मूल्यांकन करने के पश्चात् तीनों अपीलार्थियों के अपराध में भाग लेने के संबंध में निष्कर्ष निकाला है । विचारण न्यायालय येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) को दंड संहिता की धारा 447 और 504 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए ही दोषसिद्ध कर सकता था क्योंकि दंड संहिता की अन्य किसी धारा के अधीन आरोप विरचित नहीं किए गए थे ।

14. यह अत्यंत खेद की बात है कि विचारण न्यायालय ने इस मामले में ठीक प्रकार कार्यवाही नहीं की है । यदि विचारण न्यायालय का यह मत था कि येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) के विरुद्ध अभिलेख पर पर्याप्त साक्ष्य है जिसके आधार पर दंड संहिता की धारा 447 और 504/34 से भिन्न धाराओं के अधीन उनकी दोषसिद्धि की जा सकती थी तब विचारण पूरा करने के पूर्व किसी भी प्रक्रम पर अवश्य ही आरोप में परिवर्तन करने/आवश्यक आरोप जोड़ने के लिए न्यायालय के समक्ष कोई भी बाधा नहीं होगी । दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे इसमें इसके पश्चात् ‘संहिता’ कहा गया है) की धारा 216 के अधीन विचारण न्यायालय को विचारण पूरा किए जाने के पूर्व किसी भी प्रक्रम पर आरोप में परिवर्तन/संयोजन करने की शक्ति प्राप्त है । तथापि, विधि के अधीन यह अपेक्षा की जाती है कि यदि आरोप में किए गए परिवर्तन/संयोजन से अभियुक्त पर किसी भी प्रकार से कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तब

परिवर्तन किए गए उक्त नए आरोपों के संबंध में नए सिरे से विचारण किया जाना चाहिए और इस प्रयोजन के लिए अभियोजन पक्ष को संहिता की धारा 317 के अधीन यथाअपेक्षित साक्षियों को बुलाने का अवसर दिया जाना चाहिए ।

15. **हसनभाई वलीभाई कुरैशी बनाम गुजरात राज्य¹** वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है :-

“अतः, यदि विचारण के दौरान प्रस्तुत किए गए साक्ष्य और दस्तावेजों के पूर्ण प्रभाव के आधार पर मामले की व्यापक संभाव्यताओं पर विचार करने पर विचारण न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि आरोप में किसी भी प्रकार का कोई भी संयोजन या परिवर्तन आवश्यक है तब ऐसा किया जाना उचित होगा और मामले की अत्यावश्यकताओं को देखते हुए समुचित रूप से कार्य करने में कोई भी वर्जन नहीं है ।”

16. दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 385(2) और 386 के अधीन आरोप में परिवर्तन/संयोजन करने की शक्ति का प्रयोग अपील न्यायालय द्वारा किया जा सकता है ।

17. **कांतिलाल चंदूलाल मेहता बनाम महाराष्ट्र राज्य और एक अन्य²** वाले मामले में इस न्यायालय ने अपील न्यायालय की शक्ति पर पूर्ववर्ती संहिता के अधीन विचार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया है :-

“अपील न्यायालय की शक्ति दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 423 में उपवर्णित है और उसमें अतिव्यापक शक्तियां निहित हैं । उपधारा (1) के खंड (घ) का विशिष्ट निर्देश किया जा सकता है जिसके अंतर्गत ऐसा कोई भी संशोधन या कोई भी पारिणामिक या आकस्मिक आदेश पारित करने की शक्ति निहित है जो ठीक और उचित हो । आरोप में परिवर्तन या संशोधन करने की अपील न्यायालय की शक्ति के अतिरिक्त दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 535 के अधीन यह भी उपबंध किया है कि (न्यायालय का) कोई भी निष्कर्ष या पारित किया गया कोई भी दंडादेश मात्र इस आधार पर तब तक अविधिमान्य नहीं समझा जाएगा जब तक कि अपील या पुनरीक्षण न्यायालय का यह विचार हो कि ऐसा न किए जाने से

¹ ए. आई. आर. 2004 एस. सी. 2078.

² ए. आई. आर. 1970 एस. सी. 359.

अन्याय हो सकता है और यदि इनमें से किसी भी न्यायालय की राय में आरोप विरचित न किए जाने से अन्याय हुआ है तब वह न्यायालय आरोप विरचित किए जाने के लिए आदेश पारित करेगा और यह निदेश देगा कि आरोप विरचित किए जाने के तत्काल पश्चात् से ही विचारण आरंभ हो जाएगा। इस प्रकार हमारी यह सुविचारित राय है कि विचारण न्यायालय ने येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) को मृतक को क्षतियां कारित करने के अपराध के लिए मात्र इस आधार पर दोषमुक्त करके भारी गलती की है कि उनके द्वारा कारित किए गए इन अपराधों के संबंध में पुलिस ने आरोप पत्र फाइल नहीं किया है, जबकि इस संबंध में उनके विरुद्ध अभिलेख पर पर्याप्त साक्ष्य है। इस प्रकार, विचारण न्यायालय को आरोप में आवश्यक परिवर्तन/संयोजन करना चाहिए था और विधि के अनुसरण में इस मामले में कार्यवाही करनी चाहिए थी।

18. ऐसी तथ्यात्मक स्थिति में, यह प्रश्न उठता है कि क्या अन्य किसी उपबंध के अधीन विधि के अनुसरण में ऐसे अपराध के लिए दोषसिद्धि की जा सकती है जिसके संबंध में आरोप विरचित नहीं किया गया है। अब यह मुद्दा अनिर्णीत विषय नहीं है और इस पर न्यायालय द्वारा कई बार विचार किया गया है अभियुक्तों के विरुद्ध मामले के संबंध में उन्हें सदैव जानकारी दी जाती है ताकि वे अपनी उस प्रतिरक्षा को समझ सकें जिसका उन्हें अवलंब लेना है। अभियुक्त को उस अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जा सकता है जो आरोपित अपराध से छोटा है परंतु ऐसा तब होगा जब अभियुक्त न्यायालय का यह समाधान न कर सके कि किसी विशेष दांडिक उपबंध के अधीन आरोप विरचित न किए जाने से उसके साथ अन्याय हुआ है और अभियुक्त पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। (अमर सिंह बनाम हरियाणा राज्य¹ वाला मामला देखिए)

इसके अतिरिक्त त्रुटि इतनी गंभीर होनी चाहिए कि वह दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 464/465 के अधीन न आ सकती हो जिसके अंतर्गत यह उपबंध किया गया है कि कोई निष्कर्ष, दंडादेश या आदेश केवल इस आधार पर कि कोई आरोप विरचित नहीं किया गया अथवा इस आधार पर कि आरोप में कोई गलती, लोप या अनियमितता थी, जिसके अन्तर्गत आरोपों का कुसंयोजन भी है, उस दशा में ही अविधिमान्य समझा जाएगा जब न्यायालय की राय में उसके कारण न्याय नहीं हो पाया है। यह

¹ ए. आई. आर. 1973 एस. सी. 2221.

सुनिश्चित करने के लिए कि क्या आरोप विरचित करने में की गई त्रुटि, लोप या अनियमितता किए जाने से अन्याय हुआ है या नहीं इस न्यायालय को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि पूर्ववर्ती प्रक्रम पर कार्यवाहियों के दौरान आक्षेप किया जा सकता था या नहीं। प्रतिकूल प्रभाव या दोष के प्रश्न पर विचार करने के लिए न्यायालय को यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक अभियुक्त को निष्पक्ष विचारण का अधिकार है जिसके अंतर्गत उसे इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि उसका किस अपराध के लिए विचारण किया जा रहा है और उसके विरुद्ध जिन तथ्यों को सिद्ध किए जाने की ईप्सा की गई है वे तथ्य उसके समक्ष निष्पक्ष रूप से स्पष्ट कर दिए गए हैं और इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अभियुक्त को उसके विरुद्ध लगाए गए उक्त आरोपों से प्रतिरक्षा करने के लिए पूर्ण और उचित अवसर दिया गया है।

19. **सनीचर साहनी बनाम बिहार राज्य¹** वाले मामले में इस न्यायालय ने इस मुद्दे पर विचार करते हुए इस न्यायालय के अनेक निर्णयों का अवलंब लिया है विशेषकर **तोपनदास बनाम मुंबई राज्य²**; **विल्ली (विलियम) स्लेनी बनाम मध्य प्रदेश राज्य³**; **फखरुद्दीन बनाम मध्य प्रदेश राज्य⁴**; **आंध्र प्रदेश राज्य बनाम थक्कीदीरम रेड्डी⁵**; **रामजी सिंह और एक अन्य बनाम बिहार राज्य⁶** और **गुरप्रीत सिंह बनाम पंजाब राज्य⁷** वाले मामलों का अवलंब लेते हुए निम्न निष्कर्ष निकाला :-

“अतः.....जब तक कि दोषसिद्धि यह सिद्ध न कर दे कि आरोप विरचित किए जाने में जो त्रुटि हुई है उससे दोषसिद्धि पर वास्तव में प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है और उसे उसके विरुद्ध वास्तविक मामले के संबंध में सूचित नहीं किया गया है और वह समुचित रूप से अपनी प्रतिरक्षा नहीं कर सकता है, तब तक मात्र तकनीकियों के आधार पर कोई भी हस्तक्षेप अपेक्षित नहीं है। वास्तव में दोषसिद्धि के आदेश को प्रतिकूल प्रभाव के सिद्धांत की कसौटी पर परखना चाहिए।”

1 ए. आई. आर. 2010 एस. सी. 3786.

2 ए. आई. आर. 1956 एस. सी. 33.

3 ए. आई. आर. 1956 एस. सी. 116.

4 ए. आई. आर. 1967 एस. सी. 1326.

5 ए. आई. आर. 1998 एस. सी. 2702.

6 ए. आई. आर. 2001 एस. सी. 3853.

7 ए. आई. आर. 2006 एस. सी. 191.

अब्दुल सईद बनाम मध्य प्रदेश राज्य¹ वाले मामले में ऐसा ही मत दोहराया गया है ।

20. शमनसाहेब एम. मुल्तानी बनाम कर्नाटक राज्य² वाले मामले में इस न्यायालय ने 'न्याय न होना' वाक्यांश के अर्थ को स्पष्ट किया है और यह मत व्यक्त किया है कि उच्चतर न्यायालय को इस पर विचार करना चाहिए कि क्या न्याय न होने से संबंधित मुद्दा वास्तव में न्याय न होने से संबंधित है या नहीं या यह मात्र छलावरण है । न्यायालय को इस पर भी विचार करना चाहिए कि उक्त पहलू ऐसी प्रकृति से संबंधित है कि इसको स्पष्ट न करने से किसी व्यक्ति विशेष को दंड भोगना पड़ेगा और यदि यह सत्य है, तब न्यायालय यह मत व्यक्त कर सकता है कि चूंकि अभियुक्त को उस पहलू पर अपना स्पष्टीकरण देने का अवसर नहीं मिला था इसलिए नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत का अनुपालन न किए जाने से न्याय नहीं हुआ है । 'न्याय न होना' अभिव्यक्ति एक अत्यंत आनम्य या सुगम अभिव्यक्ति है जिसका प्रयोग मामले की किसी भी स्थिति में किया जा सकता है ।

21. न्यायालय को सत्य का पता लगाने का प्रयास करना चाहिए । अनुचित दोष सिद्ध किए जाने से ही अन्याय नहीं होता अपितु आवश्यक साक्ष्य प्रस्तुत न किए जाने के परिणामस्वरूप दोषी व्यक्ति के दोषमुक्त हो जाने से भी अन्याय होता है । निस्संदेह, अभियुक्त के अधिकारों को ध्यान में रखना चाहिए और उनकी रक्षा भी करनी चाहिए किन्तु उन पर इतना अधिक बल नहीं देना चाहिए कि न्यायालय यह भूल जाए कि आहत के भी अधिकार होते हैं । यह दर्शित करना चाहिए कि भारतीय दंड विधि शास्त्र के अधीन अभियुक्त को प्राप्त संरक्षा में अशक्तता आई है या उसके साथ अहित हुआ है । 'प्रतिकूल प्रभाव' का निर्वचन उसके मूल अर्थ को लेकर नहीं किया जा सकता है और न ही यह दंड विधि शास्त्र को लागू होता है । प्रतिकूल प्रभाव के अभिवाक् का संबंध अन्वेषण या विचारण से होना चाहिए न कि उन मामलों से जो उसके परिधि के बाहर आते हैं । जब एक बार अभियुक्त यह दर्शित कर देता है कि किसी भी पहलू के बाबत उस पर गंभीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है और यह कि विधि शास्त्र के अधीन उसे उपलब्ध अधिकारों का भी हनन हुआ है तब अभियुक्त न्यायालय के आदेशों के अधीन लाभ की ईप्सा कर सकता है ।

¹ (2010)10 एस. सी. सी. 259.

² ए. आई. आर. 2001 एस. सी. 921.

(नागेश्वर श्री कृष्ण घोबे बनाम महाराष्ट्र राज्य¹, राज्य द्वारा पुलिस निरीक्षक बनाम टी. वेंकटेश मूर्ति², रफीक अहमद उर्फ रफी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य³ और रतीराम और अन्य बनाम मध्य प्रदेश राज्य द्वारा पुलिस निरीक्षक⁴ वाले मामले देखिए ।)

22. वर्तमान मामले पर उपर्युक्त सुस्थापित विधि की प्रतिपादना के आधार पर विचार किया जाना अपेक्षित है ।

विचारण न्यायालय ने दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447, 504 और 302 के अधीन सभी अपीलार्थियों के विरुद्ध आरोप विरचित किए हैं और विचारण न्यायालय द्वारा विनिश्चित मुद्दे भी निम्न प्रकार विरचित किए गए हैं :-

(I) क्या मृतक के साथ अभियुक्तों की शत्रुता होने के कारण उन्होंने मृतक की भूमि में अतिचार सामान्य उद्देश्य के साथ किया है और दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447 के अधीन अपराध कारित किया है ।

(II) क्या अभियुक्तों ने उक्त तारीख, समय और स्थान पर मृतक को साशय अपमानित किया है और तद्द्वारा उसे इस आशय से या यह संभाव्य जानते हुए प्रकोपित किया है कि ऐसे प्रकोपन से वह लोक शांति भंग या कोई अन्य अपराध कारित करेगा, अतः अभियुक्तों ने दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 504 के अधीन अपराध कारित किया है या नहीं ।

(III) क्या अभियोजन पक्ष ने यह साबित किया है कि अभियुक्त ने उक्त तारीख, समय और स्थान पर मृतक की भूमि में अतिचार करने के पश्चात् पूर्व शत्रुता के कारण उसके साथ झगड़ा किया, और उस पर हमला किया एतद्द्वारा दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 के अधीन उक्त हत्या कारित की है या नहीं ।

(IV) क्या अभियोजन पक्ष ने यह साबित किया है कि अभियुक्तों ने सभी युक्तियुक्त संदेह के परे सामान्य उद्देश्य के साथ

¹ ए. आई. आर. 1973 एस. सी. 165.

² ए. आई. आर. 2004 एस. सी. 5117.

³ ए. आई. आर. 2011 एस. सी. 3114.

⁴ ए. आई. आर. 2012 एस. सी. 1485.

दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447, 504 और 302 के अधीन अपराध कारित किए हैं या नहीं ।

23. विचारण न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अभियुक्तों का एकमत नहीं था और तीनों अपीलार्थियों ने कोई भी सामान्य आशय को अग्रसर करने में कार्य नहीं किया है । अतः येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) को दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध नहीं किया जा सका और उन्हें केवल दंड संहिता की धारा 447 और 504 के अधीन ही दोषसिद्ध किया गया और उन्हें विचारण के दौरान अभिरक्षा में बिताए गए समय को गणना में लेते हुए दंडादेश अधिनिर्णीत किया । विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करने में सुस्पष्ट गलती की है कि इस तथ्य के बावजूद कि दो अभियुक्त क्षति सं. 2 से 11 कारित करने के लिए स्पष्ट रूप से जिम्मेदार हैं फिर भी उन्हें किसी भी अपराध के लिए, अन्य किसी दांडिक उपबंध के अधीन आरोप विरचित किए जाने के अभाव में, दोषसिद्ध नहीं किया जा सका । ऐसी स्थिति में, विचारण न्यायालय के लिए आवश्यक आरोपों में परिवर्तन/परिवर्धन करना न्यायोचित होता या ऐसा परिवर्तन/परिवर्धन किए बिना भी क्षतियों की गंभीरता पर विचार करते हुए उन्हें उक्त अपराधों के लिए दंडित करना न्यायोचित होता क्योंकि दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय अपराध की अपेक्षा छोटे अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जा सकता था ।

24. उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि येंकप्पा (अभियुक्त 1) और सुगन्ना (अभियुक्त 3) के विरुद्ध धारा 302/34 के अधीन आरोप विरचित किया गया है, उन्हें भी धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया जाना चाहिए था । यह निष्कर्ष न्यायोचित नहीं है, क्योंकि उच्च न्यायालय ने विचारण द्वारा अभिलिखित इस निष्कर्ष को नहीं उलटा है कि तीनों अभियुक्तों ने किसी भी सामान्य आदेश को अग्रसर करने में कार्य नहीं किया है ।

25. हमने क्षतियों की संख्या और उनकी गंभीरता पर विचार किया है साथ ही प्रत्येक अपीलार्थी द्वारा अपराध में निभाई गई भूमिका पर भी विचार किया है । अभिलेख पर पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध है विशेषकर मृतक की पत्नी पदम्मा (अभि. सा. 1) का अभिसाक्ष्य जिससे यह दर्शित होता है कि जब उसका पति उक्त क्षतियों के कारण नीचे गिर गया था, तब अभियुक्तों ने उस पर हमला करना बंद कर दिया था । भिमन्ना (अभियुक्त-2) ने 'मेली' फेंक दी थी और सभी अभियुक्त यह कहते हुए घटनास्थल से चले गए कि

आहत नीचे गिर गया है। इससे स्पष्ट रूप से यह सिद्ध होता है कि अपीलार्थियों का आशय मृतक की हत्या करने का नहीं था और यह सब मृतक की भूमि में अपीलार्थियों द्वारा अतिचार किए जाने के पश्चात् दोनों पक्षों के बीच हुई गरमा-गरमी के कारण क्षण भर की उत्तेजना में घटित हुआ। अतः, यह घटना पूर्व नियोजित या पूर्व-चिंतन की गई प्रतीत नहीं होती है। अतः यदि तीनों अभियुक्तों को दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 304 भाग I के अधीन दोषसिद्ध किया जाए और तदनुसार दंड अधिनिर्णीत किया जाए तो न्याय का उद्देश्य पूरा होगा। परिणामतः, सभी अपीलार्थियों को दंड संहिता की धारा 34 के साथ पठित धारा 447, 504 और 304 भाग I के अधीन दोषसिद्ध किया जाता है।

भिमन्ना (अभियुक्त-2) पहले ही साढ़े तेरह वर्ष से अधिक समय जेल में बिता चुका है। अतः उसे पहले से भोगी गई अवधि के कारावास का दंडादेश अधिनिर्णीत किया जाता है और यह निदेश दिया जाता है कि यदि वह अन्य किसी मामले में वांछित नहीं है तो उसे तत्काल उन्मुक्त किया जाए। येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) को 10 वर्ष का कठोर कारावास का दंडादेश अधिनिर्णीत किया जाता है। सभी अपीलार्थी दंड संहिता की धारा 447, 504/34 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए अधिनिर्णीत दंडादेश पहले से ही भोग चुके हैं।

अपीलार्थियों के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी है कि येंकप्पा (अभियुक्त-1) और सुगन्ना (अभियुक्त-3) पहले ही लगभग 10 वर्ष का कारावास भोग चुके हैं। यदि उन्होंने पहले से 10 वर्ष की अवधि का कारावास नहीं भोगा है तो इस अवधि के पूरे होने के पश्चात् और यदि वे अन्य किसी अन्य मामले में वांछित नहीं हैं तो उन्हें जेल से उन्मुक्त किया जाए।

उपरोक्त को दृष्टिगत करते हुए दोनों अपीलों का निपटारा किया जाता है।

अपीलों का निपटारा किया गया।

अस./अनू.

[2013] 3 उम. नि. प. 80

सैयद मोहम्मद अहमद काज़मी

बनाम

राज्य, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली सरकार और अन्य

19 अक्टूबर, 2012

मुख्य न्यायमूर्ति अल्लमस कबीर, न्यायमूर्ति सुरिन्दर सिंह निज्जर
और न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 167(2) [विधिविरुद्ध क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 की धारा 43घ द्वारा यथासंशोधित] – कानूनी जमानत का अधिकार – कानूनी जमानत प्राप्त करने का अधिकार आरोप पत्र फाइल कर दिए जाने पर केवल तभी निर्वापित हो जाता है यदि आरोप पत्र कानूनी जमानत संबंधी आवेदन फाइल करने से पूर्व फाइल कर दिया जाता है चूंकि कानूनी जमानत प्रदान करने के लिए फाइल किए गए आवेदन के लंबित रहने के दौरान आरोप पत्र फाइल करने से कानूनी जमानत प्राप्त करने संबंधी अभियुक्त का अधिकार प्रभावित नहीं होता है।

पुलिस ने उस विस्फोट के संबंध में, जिसमें इज़राइल दूतावास का वह यान आलिप्त था जिसमें इज़राइली राजनयिक की पत्नी यात्रा कर रही थी, जो कि औरंगज़ेब मार्ग/सफदरजंग मार्ग क्रॉसिंग पर हुआ था, भारतीय दंड संहिता की धारा 307, 427 और 120ख के अधीन अभिकथित रूप से कारित अपराधों की बाबत प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज की। बाद में अभिकथित अपराधों के संबंध में यह संशोधन किया गया कि वे विधिविरुद्ध क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 की धारा 16 और 18 के अंतर्गत आते हैं। अपीलार्थी को कुछ अज्ञात व्यक्तियों द्वारा लोधी रोड स्थित भारतीय इस्लामी संस्कृति केन्द्र के बाहर से गिरफ्तार किया गया था। उसे मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने 20 दिन के लिए पुलिस अभिरक्षा में भेज दिया। 20 दिन की रिमांड अवधि के अवसान से दो दिन पूर्व अन्वेषण अभिकरण ने अपना अन्वेषण पूरा किया और विद्वान मजिस्ट्रेट को यह जानकारी दी गई थी कि अपीलार्थी से और आगे अभिरक्षात्मक पूछताछ करनी आवश्यक नहीं है। परिणामस्वरूप, अपीलार्थी को 14 दिन की अतिरिक्त अवधि के लिए न्यायिक अभिरक्षा में भेज दिया गया था। अपीलार्थी की ओर से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 437 के अधीन जमानत

के लिए प्रार्थना की गई थी । उक्त आवेदन नामंजूर कर दिया गया । अपीलार्थी को मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया गया था चूंकि उसकी नब्बे दिन की अभिरक्षा-अवधि समाप्त होने वाली थी और अभियोजन-पक्ष द्वारा नब्बे दिनों की और अभिरक्षा की ईप्सा की गई थी । विद्वान मजिस्ट्रेट ने अन्वेषण और अपीलार्थी की अभिरक्षा की अवधि और नब्बे दिनों के लिए विस्तारित कर दी । उक्त आदेश को अपीलार्थी द्वारा दांडिक पुनरीक्षण के रूप में चुनौती दी गई थी जिसमें विद्वान अपर सेशन न्यायाधीश ने तारीख 8 जून, 2012 के अपने आदेश द्वारा अन्य बातों के साथ-साथ यह अभिनिर्धारित किया कि सेशन न्यायालय न कि मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट को ही अभियुक्त की न्यायिक अभिरक्षा बढ़ाने और ऐसी प्रकृति के मामलों को ग्रहण करने की सक्षमता प्राप्त थी । अपीलार्थी को उसकी अभिरक्षा अवधि में विस्तार करने के लिए विद्वान मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया गया था । तथापि, अपीलार्थी की ओर से तारीख 17 जुलाई, 2012 को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन व्यतिक्रम जमानत की ईप्सा करते हुए एक आवेदन फाइल किया गया था क्योंकि अपीलार्थी की अभिरक्षा की नब्बे दिन की अवधि के भीतर कोई आरोप पत्र फाइल नहीं किया गया था । मजिस्ट्रेट ने उक्त आवेदन खारिज कर दिया था । इसके पश्चात्, मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट द्वारा मामला जिला और सेशन न्यायाधीश को निर्देशित कर दिया गया था, जिसने यह निदेश दिया था कि अपीलार्थी की न्यायिक अभिरक्षा तारीख 3 जुलाई, 2012 तक बढ़ाई जाए । राज्य ने तारीख 30 जून, 2012 को अपीलार्थी को कोई सूचना तामील किए बिना उच्च न्यायालय के समक्ष दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन दांडिक प्रकीर्ण मामला फाइल कर दिया जिसमें अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा तारीख 8 जून, 2012 को पारित आदेश की विधिमान्यता को प्रश्नगत किया गया था । उच्च न्यायालय ने तारीख 2 जुलाई, 2012 के अपने आदेश द्वारा 2012 के दांडिक पुनरीक्षण में अपर सेशन न्यायाधीश, केन्द्रीय II, दिल्ली की मताभिव्यक्तियों पर रोक लगा दी । अतः, अपीलार्थी के कानूनी जमानत मंजूर करने संबंधी आवेदन पर तब तक कार्यवाही नहीं की जा सकी जब तक उच्च न्यायालय ने तारीख 13 जुलाई, 2012 के दांडिक पुनरीक्षण में की कार्यवाहियों की बाबत रोकानुदेश को यह वचनबंध दिए जाने के अधीन रहते हुए बातिल नहीं कर दिया कि इसमें अंतर्वलित विधि के प्रश्न पर बहस नहीं की जाएगी और पुनरीक्षण केवल मामले के तथ्यात्मक पहलुओं तक निर्बंधित रहेगा । अपीलार्थी के काउन्सेल ने उस संदर्भ में उसी तारीख को मुख्य

मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(4) के अधीन एक अन्य आवेदन फाइल किया और उसे तारीख 17 जुलाई, 2012 को विचारार्थ सूचीबद्ध किया गया था। इसी बीच, दांडिक पुनरीक्षण जो कि अपीलार्थी द्वारा फाइल किया गया था, तारीख 16 जुलाई, 2012 को अंतिम बहस के लिए प्रस्तुत किया गया और अपर सेशन न्यायाधीश ने तारीख 17 जुलाई, 2012 को वह आवेदन मंजूर कर लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी की अभिरक्षा अवैध थी। अपर सेशन न्यायाधीश के इसी आदेश को ध्यान में रखते हुए, अपीलार्थी का काउन्सेल उसी दिन मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित हुआ और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन आवेदन सुनवाई के लिए सूचीबद्ध किया गया था किन्तु मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने उक्त तारीख को आवेदन की सुनवाई करने की बजाय सुनवाई को तारीख 18 जुलाई, 2012 के लिए पुनः अधिसूचित कर दिया। तारीख 18 जुलाई, 2012 को राज्य ने मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष एक नया आवेदन फाइल किया जिसके द्वारा अपीलार्थी की अभिरक्षा और अन्वेषण अवधि में और विस्तार करने की ईप्सा की गई। मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने अपीलार्थी के काउन्सेल को उक्त आवेदन की एक प्रति की तामील करने का निदेश देकर मामला तारीख 20 जुलाई, 2012 को सुनवाई के लिए पुनः अधिसूचित कर दिया। मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने तारीख 20 जुलाई, 2012 को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन अपीलार्थी के आवेदन पर विचार करने की बजाय अभियोजन पक्ष की ओर से अभिरक्षा के विस्तारण के लिए फाइल किए गए आवेदन पर कार्यवाही की और उसने अपने उसी तारीख के आदेश द्वारा अन्वेषण और अपीलार्थी की अभिरक्षा की अवधि को तारीख 2 जून, 2012 से भूतलक्षी प्रभाव से नब्बे दिन के लिए बढ़ा दिया। मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के उपर्युक्त आदेश को अपीलार्थी द्वारा 2012 के दांडिक पुनरीक्षण सं. 86 में सेशन न्यायालय में चुनौती दी गई थी। अपर सेशन न्यायाधीश ने अपने तारीख 30 जुलाई, 2012 के आदेश द्वारा यह मत व्यक्त किया कि उक्त पुनरीक्षण आवेदन में विधि और तथ्य संबंधी मिश्रित प्रश्न अंतर्वलित थे और उसने मामले को तारीख 12 अक्टूबर, 2012 तक स्थगित कर दिया। इसी बीच, तारीख 31 जुलाई, 2012 को अभियोजन-पक्ष ने आरोप पत्र फाइल किया। इसके बाद अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष 2012 के दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 13484 के रूप में शीघ्र सुनवाई के लिए एक आवेदन फाइल किया जिस पर उच्च न्यायालय ने यह मताभिव्यक्ति की कि न्यायालय के

समक्ष मामलों की लंबी सूची को देखते हुए शीघ्र सुनवाई करने संबंधी अपीलार्थी के अनुरोध को मानना संभव नहीं है और मामला तारीख 9 अक्टूबर, 2012 के लिए पुनः अधिसूचित कर दिया गया था जो कि इन अपीलों में आक्षेपित आदेश है। ये अपीलें 2012 के दांडिक प्रकीर्ण मामला सं. 2180 में दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 2 जुलाई, 2012, 6 जुलाई, 2012 और 6 अगस्त, 2012 के निर्णय और आदेशों से उद्भूत हुई हैं। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलों मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि तारीख 17 जुलाई, 2012 को, जब अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा 2012 का दांडिक पुनरीक्षण सं. 86 मंजूर किया गया था और अपीलार्थी की अभिरक्षा अवैध अभिनिर्धारित की गई थी तब अपीलार्थी की ओर से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन कानूनी जमानत मंजूर करने के लिए एक आवेदन फाइल कर दिया गया था जिसे सुनवाई के लिए सूचीबद्ध किया गया था। मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने आवेदन की सुनवाई करने की बजाय उसे अगले दिन के लिए स्थगित कर दिया था जब लोक अभियोजक ने अभिरक्षा और अन्वेषण की अवधि में विस्तार करने के लिए आवेदन फाइल किया और उसने तारीख 20 जुलाई, 2012 को अन्वेषण और अपीलार्थी की अभिरक्षा की अवधि में तारीख 2 जून, 2012 से भूतलक्षी प्रभाव से नब्बे दिनों की अतिरिक्त अवधि के लिए विस्तार कर दिया गया था। न केवल मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के आदेश की पूर्वव्याप्ति अमान्य है बल्कि इससे उस कानूनी अधिकार को भी विफल नहीं किया जा सकेगा जो अपीलार्थी को उस तारीख से जब उसे अभिरक्षा में लिया गया था, 90 दिन के अवसान पर प्रोद्भूत हो गया था। ऐसा अधिकार, केवल तभी प्रभेदनीय है जब मामले में आरोपपत्र फाइल कर दिया जाता है और उससे पूर्व कानूनी जमानत मंजूर करने के लिए कोई आवेदन फाइल नहीं किया जाता है। यह सुस्थापित है कि यदि कोई अभियुक्त कानूनी जमानत मंजूर करने संबंधी अपने अधिकार का प्रयोग आरोपपत्र फाइल करने से पूर्व नहीं करता है तो वह ऐसे फायदे संबंधी अपने अधिकार को उस समय खो देता है जब आरोपपत्र फाइल कर दिया जाता है और वह इसके पश्चात् केवल नियमित जमानत के लिए आवेदन कर सकता है। (पैरा 24)

तथापि, इस मामले में की परिस्थितियां इन अर्थों में भिन्न हैं कि अपीलार्थी ने उसी दिन कानूनी जमानत संबंधी अपने अधिकार का प्रयोग कर दिया था जिसको उसकी अभिरक्षा अवैध अभिनिर्धारित की गई थी और

मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट द्वारा उस आवेदन को तब तक के लिए अविनिश्चित छोड़ दिया गया था जब तक अभियोजन-पक्ष द्वारा अन्वेषण पूरा करने के लिए समय में विस्तार करने संबंधी आवेदन पर कार्यवाही नहीं कर दी गई थी और उस पर आदेश पारित नहीं कर दिया गया था । (पैरा 25)

अतः, मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट द्वारा पारित तारीख 20 जुलाई, 2012 के उस आदेश को, जिसके द्वारा अन्वेषण और अभियुक्त की अभिरक्षा के समय को तारीख 2 जून, 2012 से भूतलक्षी प्रभाव से नब्बे दिनों के लिए बढ़ाया गया था और इस अपील में आक्षेपित उच्च न्यायालय के तारीख 2 जुलाई, 2012, 6 जुलाई, 2012 और 6 अगस्त, 2012 के आदेशों को अपास्त करते हुए यह निदेश दिया जाता है कि अपीलार्थी को मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समाधानप्रद रूप में ऐसी शर्तों पर, जो कि उपयुक्त और उचित समझी जाएं, जिनमें पासपोर्ट का अभ्यर्पण, स्थानीय पुलिस थाने में रिपोर्ट करना और न्यायालय की इजाजत के बिना उस शहर की सीमाओं से बाहर न जाना शामिल है, जहां अपीलार्थी निवास कर रहा होगा जमानत पर छोड़ दिया जाए जिससे कि विचारण के समय अभियुक्त-अपीलार्थी की उपस्थिति सुनिश्चित की जा सके । (पैरा 27)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

- [2002] (2002) 5 एस. सी. सी. 453 :
उदय मोहनलाल आचार्य बनाम महाराष्ट्र राज्य ; 19
- [1996] (1996) 1 एस. सी. सी. 718 :
डा. बिपिन शांतिलाल पंचाल बनाम गुजरात राज्य ; 22,23
- [1994] (1994) 5 एस. सी. सी. 410 :
संजय दत्त बनाम राज्य, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो
के माध्यम से । 19,22,23,24

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2012 की दांडिक अपील सं. 1695-1697.

2012 के दांडिक प्रकीर्ण मामला सं. 2180 में दिल्ली उच्च न्यायालय के तारीख 2 जुलाई, 2012, 6 जुलाई, 2012 और 6 अगस्त, 2012 के निर्णय और आदेशों के विरुद्ध अपीलें ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री महमूद प्राचा, गजिन्दर कुमार,

शेख फिरोज़ इकबाल, (सुश्री) स्नेहा सिंह, चन्द्र शेखर और चिराग एम. श्राफ

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री हरिन पी. रावल, अपर महासालिसिटर, श्रीनिवास खल्प, अनिरुद्ध शर्मा, आनन्दो मुखर्जी, पलश कंवर, डी. एस. मेहरा और बी. वी. बलराम दास

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायमूर्ति अल्लमस कबीर ने दिया ।

मु. न्या. अल्लमस कबीर – इजाजत दी जाती है ।

2. ये अपीलें 2012 के दांडिक प्रकीर्ण मामला सं. 2180 में दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 2 जुलाई, 2012, 6 जुलाई, 2012 और 6 अगस्त, 2012 के निर्णय और आदेशों से उद्भूत हुई हैं ।

3. उच्च न्यायालय ने तारीख 2 जुलाई, 2012 के प्रथम आदेश द्वारा इस प्रश्न के संबंध में सूचना जारी की कि क्या मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट का न्यायालय अभियुक्त को विधिविरुद्ध क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 के उपबंधों के अधीन किए गए अपराधों के लिए 15 दिन से परे प्रतिप्रेषण पर भेजने के लिए सक्षम है । विद्वान अपर महासालिसिटर को भी सूचना जारी की गई थी चूंकि इस मामले में राष्ट्रीय अन्वेषण अभिकरण अधिनियम, 2008, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 और ऊपर उल्लिखित विधिविरुद्ध क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 के उपबंधों का निर्वचन अंतर्वलित था । विद्वान अपर सेशन न्यायाधीश, केन्द्रीय-II, दिल्ली के समक्ष 2012 के दांडिक पुनरीक्षण सं. 86 में लंबित कार्यवाहियों पर भी सुनवाई की अगली तारीख तक रोक लगा दी गई थी और मामला तारीख 9 अक्टूबर, 2012 को सूचीबद्ध करने का निदेश दिया गया था । उच्च न्यायालय ने तारीख 6 जुलाई, 2012 के पश्चात्पूर्ती आदेश द्वारा अपने पूर्ववर्ती आदेश को उपांतरित कर दिया और मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट को अभियुक्त के प्रतिप्रेषण की अवधि बढ़ाने और अपराधों का विधिविरुद्ध क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 के अधीन संज्ञान करने का निदेश दिया । उच्च न्यायालय ने तारीख 6 अगस्त, 2012 के एक अन्य आदेश द्वारा अपीलार्थी की मामले की शीघ्र सुनवाई करने की प्रार्थना यह उपदर्शित करते हुए नामंजूर कर दी कि न्यायालय के समक्ष मामलों की लंबी सूची को देखते हुए शीघ्र सुनवाई करने संबंधी अपीलार्थी

के अनुरोध को मानना संभव नहीं है ।

4. यद्यपि विशेष इजाजत याचिका उक्त तीन आदेशों के विरुद्ध फाइल की गई थी तथापि, उसकी सुनवाई के दौरान सारवान् महत्व का एक और प्रश्न उद्भूत हुआ था जब अपीलार्थी की ओर से एक आवेदन, जो कि 2012 का दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 19883-85 था, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन कानूनी जमानत मंजूर करने के लिए फाइल किया गया था और इसलिए अपील के साथ-साथ उसकी भी सुनवाई की गई थी ।

5. अपीलों के समर्थन में उपस्थित होने वाले विद्वान अधिवक्ता श्री महमूद प्राचा ने यह दलील दी कि तारीख 13 फरवरी, 2012 को पुलिस ने उस विस्फोट के संबंध में, जिसमें इज़राइल दूतावास का वह यान आलिप्त था जिसमें इज़राइली राजनयिक की पत्नी यात्रा कर रही थी, जो कि औरंगज़ेब मार्ग/सफदरजंग मार्ग क्रासिंग पर लगभग 3.15 अपराह्न हुआ था, भारतीय दंड संहिता की धारा 307, 427 और 120ख के अधीन अभिकथित रूप से कारित अपराधों की बाबत 2012 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं. 4 दर्ज की । बाद में अभिकथित अपराधों के संबंध में यह संशोधन किया गया कि वे विधिविरुद्ध क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 की धारा 16 और 18 के अंतर्गत आते हैं ।

6. तारीख 6 मार्च, 2012 को अपीलार्थी, सैयद मोहम्मद अहमद काज़मी को सादा कपड़ों में कुछ अज्ञात व्यक्तियों द्वारा लोधी रोड स्थित भारतीय इसलामी संस्कृति केन्द्र के बाहर से गिरफ्तार किया गया था । उसे तारीख 7 मार्च, 2012 को विद्वान मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया गया था जिसने उसे कतिपय शर्तों के अधीन रहते हुए 20 दिन के लिए पुलिस अभिरक्षा में भेज दिया । 20 दिन की रिमांड अवधि के अवसान से दो दिन पूर्व तारीख 25 मार्च, 2012 को अन्वेषण अभिकरण ने अपना अन्वेषण पूरा किया और विद्वान मजिस्ट्रेट को यह जानकारी दी गई थी कि अपीलार्थी से और आगे अभिरक्षात्मक पूछताछ करनी आवश्यक नहीं है । परिणामस्वरूप, अपीलार्थी को 14 दिन की अतिरिक्त अवधि के लिए न्यायिक अभिरक्षा में भेज दिया गया था ।

7. तारीख 28 मार्च, 2012 को अपीलार्थी की ओर से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 437 के अधीन जमानत के लिए प्रार्थना की गई थी । उक्त आवेदन की सुनवाई की गई थी किन्तु जमानत के संबंध में अपीलार्थी की प्रार्थना तारीख 3 अप्रैल, 2012 को नामंजूर कर दी गई थी ।

इसी बीच, क्षतिग्रस्त कार के निरीक्षण के संबंध में विभिन्न अन्य कार्यवाहियों की गई थीं ।

8. तारीख 2 जून, 2012 को अपीलार्थी को मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया गया था चूंकि उसकी नब्बे दिन की अभिरक्षा-अवधि तारीख 3 जून, 2012 को समाप्त होने वाली थी और अभियोजन-पक्ष द्वारा नब्बे दिनों की और अभिरक्षा की ईप्सा की गई थी । विद्वान मजिस्ट्रेट ने तारीख 2 जून, 2012 के अपने आदेश द्वारा अन्वेषण और अपीलार्थी की अभिरक्षा की अवधि और नब्बे दिनों के लिए विस्तारित कर दी । तारीख 2 जून, 2012 के उक्त आदेश को अपीलार्थी द्वारा 2012 के दांडिक पुनरीक्षण सं. 86 के रूप में चुनौती दी गई थी जो कि विद्वान अपर सेशन न्यायाधीश के समक्ष तारीख 8 जून, 2012 को विचारार्थ रखा गया था । विद्वान अपर सेशन न्यायाधीश ने अन्य बातों के साथ-साथ यह अभिनिर्धारित किया कि सेशन न्यायालय न कि मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट को ही अभियुक्त की न्यायिक अभिरक्षा बढ़ाने और ऐसी प्रकृति के मामलों को ग्रहण करने की सक्षमता प्राप्त थी ।

9. तारीख 22 जून, 2012 को अपीलार्थी को उसकी अभिरक्षा अवधि में विस्तार करने के लिए विद्वान मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया गया था । तथापि, अपीलार्थी की ओर से तारीख 17 जुलाई, 2012 को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन व्यतिक्रम जमानत की ईप्सा करते हुए एक आवेदन फाइल किया गया था क्योंकि अपीलार्थी की अभिरक्षा की नब्बे दिन की अवधि के भीतर कोई आरोप पत्र फाइल नहीं किया गया था । विद्वान मजिस्ट्रेट ने उक्त आवेदन अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा अपने तारीख 8 जून, 2012 के आदेश में की गई मताभिव्यक्तियों के बावजूद खारिज कर दिया था ।

10. इसके पश्चात्, विद्वान मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट द्वारा मामला जिला और सेशन न्यायाधीश को निर्देशित कर दिया गया था, जिसने यह निदेश दिया था कि अपीलार्थी की न्यायिक अभिरक्षा तारीख 3 जुलाई, 2012 तक बढ़ाई जाए । राज्य ने तारीख 30 जून, 2012 को अपीलार्थी को कोई सूचना तामील किए बिना उच्च न्यायालय के समक्ष दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन 2012 का दांडिक प्रकीर्ण मामला सं. 2180 फाइल कर दिया जिसमें विद्वान अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा तारीख 8 जून, 2012 को पारित आदेश की विधिमान्यता को प्रश्नगत किया गया था । उच्च न्यायालय ने तारीख 2 जुलाई, 2012 के अपने आदेश द्वारा

2012 के दांडिक पुनरीक्षण सं. 86 में अपर सेशन न्यायाधीश, केन्द्रीय II, दिल्ली की मताभिव्यक्तियों पर रोक लगा दी । अतः, अपीलार्थी के कानूनी जमानत मंजूर करने संबंधी आवेदन पर तब तक कार्यवाही नहीं की जा सकी जब तक उच्च न्यायालय ने तारीख 13 जुलाई, 2012 के दांडिक पुनरीक्षण सं. 86 में की कार्यवाहियों की बाबत रोकदेश को यह वचनबंध दिए जाने के अधीन रहते हुए बातिल नहीं कर दिया कि इसमें अंतर्वलित विधि के प्रश्न पर बहस नहीं की जाएगी और पुनरीक्षण केवल मामले के तथ्यात्मक पहलुओं तक निर्बंधित रहेगा । अपीलार्थी के काउन्सेल ने उस संदर्भ में उसी तारीख को विद्वान मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(4) के अधीन एक अन्य आवेदन फाइल किया और उसे तारीख 17 जुलाई, 2012 को विचारार्थ सूचीबद्ध किया गया था । इसी बीच, 2012 का दांडिक पुनरीक्षण सं. 86 जो कि अपीलार्थी द्वारा फाइल किया गया था, तारीख 16 जुलाई, 2012 को अंतिम बहस के लिए प्रस्तुत किया गया और अपर सेशन न्यायाधीश ने तारीख 17 जुलाई, 2012 को वह आवेदन मंजूर कर लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि अपीलार्थी की अभिरक्षा अवैध थी ।

11. अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा पारित उस आदेश को ध्यान में रखते हुए, जिसके द्वारा अपीलार्थी की अभिरक्षा को अवैध घोषित किया गया था, अपीलार्थी का काउन्सेल उसी दिन मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित हुआ और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन आवेदन सुनवाई के लिए सूचीबद्ध किया गया था किन्तु मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने उक्त तारीख को आवेदन की सुनवाई करने की बजाय सुनवाई को तारीख 18 जुलाई, 2012 के लिए पुनः अधिसूचित कर दिया ।

12. तारीख 18 जुलाई, 2012 को राज्य ने मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष एक नया आवेदन फाइल किया जिसके द्वारा अपीलार्थी की अभिरक्षा और अन्वेषण अवधि में और विस्तार करने की ईप्सा की गई । विद्वान मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने उक्त आवेदन प्राप्त करने के पश्चात् यह निदेश दिया कि उक्त आवेदन की एक प्रति की तामील अपीलार्थी के काउन्सेल को की जाए और मामला तारीख 20 जुलाई, 2012 को सुनवाई के लिए पुनः अधिसूचित कर दिया ।

13. मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने तारीख 20 जुलाई, 2012 को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन अपीलार्थी के आवेदन पर विचार करने की बजाय अभियोजन-पक्ष की ओर से अभिरक्षा के विस्तारण

के लिए फाइल किए गए आवेदन पर कार्यवाही की और विद्वान मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने अपने उसी तारीख के आदेश द्वारा अन्वेषण और अपीलार्थी की अभिरक्षा की अवधि को तारीख 2 जून, 2012 से भूतलक्षी प्रभाव से नब्बे दिन के लिए बढ़ा दिया ।

14. विद्वान मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के उपर्युक्त आदेश को अपीलार्थी द्वारा 2012 के दांडिक पुनरीक्षण सं. 86 में सेशन न्यायालय में चुनौती दी गई थी । अपर सेशन न्यायाधीश ने अपने तारीख 30 जुलाई, 2012 के आदेश द्वारा यह मत व्यक्त किया कि उक्त पुनरीक्षण आवेदन में विधि और तथ्य संबंधी मिश्रित प्रश्न अंतर्वलित थे और उसने मामले को तारीख 12 अक्टूबर, 2012 तक स्थगित कर दिया । इसी बीच, तारीख 31 जुलाई, 2012 को अभियोजन-पक्ष ने आरोप पत्र फाइल किया । इसके बाद अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष 2012 का दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 13484 के रूप में शीघ्र सुनवाई के लिए एक आवेदन फाइल किया जिस पर उच्च न्यायालय ने यह मताभिव्यक्ति की कि न्यायालय के समक्ष मामलों की लंबी सूची को देखते हुए शीघ्र सुनवाई करने संबंधी अपीलार्थी के अनुरोध को मानना संभव नहीं है और मामला तारीख 9 अक्टूबर, 2012 के लिए पुनः अधिसूचित कर दिया गया था जो कि इन अपीलों में आक्षेपित आदेश है ।

15. अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान अधिवक्ता श्री महमूद प्राचा ने यह दलील दी है कि जैसे ही दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167 की उपधारा (2) के परन्तुक के खंड (क)(i) के अधीन यथा-अनुबद्ध नब्बे दिन की अवधि समाप्त हो गई थी वैसे ही कोई अपराध कारित किए जाने के संबंध में गिरफ्तार किए गए व्यक्ति का कानूनी जमानत पर छोड़ दिए जाने का अधिकार आरंभ हो गया था और अभिरक्षा की अवधि बढ़ाने के लिए कोई पश्चात्पूर्ती आवेदन फाइल करके उसका निर्वापन नहीं किया जा सकता था । श्री प्राचा ने यह दलील दी कि तारीख 17 जुलाई, 2012 को अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा 2012 के दांडिक पुनरीक्षण सं. 86 में अपीलार्थी की अभिरक्षा को अवैध ठहराया गया था और उसी दिन दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन अपीलार्थी का आवेदन विद्वान मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समक्ष लंबित था, जिसने तथापि, आवेदन की सुनवाई नहीं की थी और उसकी सुनवाई तारीख 18 जुलाई, 2012 के लिए पुनः अधिसूचित कर दी थी । इस तथ्य से कि वह आवेदन अगले दिन के लिए पुनः अधिसूचित कर दिया गया था, यह तथ्य नासाबित नहीं हो जाता कि आवेदन तारीख 17 जुलाई, 2012 को लंबित था जब अपीलार्थी

की अभिरक्षा अवधि न केवल समाप्त हो गई थी बल्कि वह अवैध घोषित की गई थी। श्री प्राचा ने यह दलील दी कि अभियोजन-पक्ष की ओर से अभिरक्षा की अवधि को बढ़ाने के लिए फाइल किया गया तारीख 18 जुलाई, 2012 के आवेदन, जिसे विद्वान मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट द्वारा तारीख 20 जुलाई, 2012 को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन अपीलार्थी के आवेदन पर विचार किए बिना मंजूर कर लिया गया था और अन्वेषण तथा अपीलार्थी की अभिरक्षा की अवधि का तारीख 2 जून, 2012 से भूतलक्षी प्रभाव से पश्चात्पूर्ती विस्तारण करने से मामले में किसी भी हद तक कोई सुधार नहीं हुआ था, जहां तक अभियोजन-पक्ष का संबंध है, चूंकि नब्बे दिनों से परे अभिरक्षा की प्रथम अवधि के समाप्त हो जाने पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के संशोधित उपबंधों के अधीन यथा-अनुध्यात अभिरक्षा की अवधि बढ़ाने के लिए कोई आवेदन लंबित नहीं था।

16. इस प्रक्रम पर यह उपदर्शित करना उपयोगी होगा कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के उपबंधों को विधिविरुद्ध क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1967 की धारा 43घ के आधार पर संशोधित किया गया था। उपर्युक्त अधिनियम की धारा 43घ के उपबंधों के आधार पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) में किए गए उपांतरण को इसमें इसके नीचे उद्धृत किया जाता है :-

“43घ. संहिता के कतिपय उपबंधों का उपांतरित रूप में लागू होना – (1) संहिता या किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, इस अधिनियम के अधीन दंडनीय प्रत्येक अपराध संहिता की धारा 2 के खंड (ग) के अर्थ के भीतर संज्ञेय अपराध समझा जाएगा और उस खंड में यथा परिभाषित “संज्ञेय मामला” का तदनुसार अर्थ लगाया जाएगा।

(2) संहिता की धारा 167 ऐसे किसी मामले के संबंध में, जिसमें इस अधिनियम के अधीन दंडनीय कोई अपराध अंतर्वलित है, इस उपांतरण के अधीन रहते हुए लागू होगी कि उपधारा (2) में, –

(क) “पन्द्रह दिन”, “नब्बे दिन” और “साठ दिन” के प्रति निर्देशों का, जहां कहीं भी वे आते हैं, यह अर्थ लगाया जाएगा कि वे क्रमशः “तीस दिन”, “नब्बे दिन” और “नब्बे दिन” के प्रति निर्देश हैं; और

(ख) परन्तुक के पश्चात् निम्नलिखित परन्तुक अंतःस्थापित किए जाएंगे, अर्थात् :-

परन्तु यह और कि यदि नब्बे दिन की उक्त अवधि के भीतर अन्वेषण पूरा करना संभव नहीं है तो न्यायालय, यदि वह लोक अभियोजक की अन्वेषण की प्रगति और नब्बे दिनों की उक्त अवधि से परे, अभियुक्त को निरुद्ध रखने के लिए विनिर्दिष्ट कारणों को उपदर्शित करने वाली रिपोर्ट से संतुष्ट है, उक्त अवधि को एक सौ अस्सी दिन तक विस्तारित कर सकेगा :

परन्तु यह भी कि यदि इस अधिनियम के अधीन अन्वेषण करने वाला पुलिस अधिकारी अन्वेषण के प्रयोजनों के लिए, न्यायिक अभिरक्षा में स्थित किसी व्यक्ति को न्यायिक अभिरक्षा से पुलिस अभिरक्षा में सौंपने का अनुरोध करता है तो वह ऐसा करने के कारणों का कथन करते हुए एक शपथपत्र फाइल करेगा और ऐसी पुलिस अभिरक्षा का अनुरोध करने के लिए किसी विलंब, यदि कोई है, को भी स्पष्ट करेगा ।”

17. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के उपबंधों में किए गए उपरोक्त उपांतरण के आधार पर अन्वेषण पूरा करने और आरोप पत्र फाइल करने के लिए अनुबद्ध नब्बे दिन की अवधि संशोधित परन्तुक के आधार पर उपांतरित कर दी गई थी, जिससे यह उपदर्शित होता है कि यदि अन्वेषण नब्बे दिन के भीतर पूरा नहीं किया जा सका था और न्यायालय लोक अभियोजक की अन्वेषण की प्रगति और नब्बे दिन की अवधि से परे अभियुक्त को निरुद्ध रखने के लिए विनिर्दिष्ट कारणों को उपदर्शित करने वाली रिपोर्ट से संतुष्ट है तो वह उक्त अवधि को 180 दिन तक विस्तारित कर सकेगा । दूसरे शब्दों में, आरोप पत्र फाइल करने के लिए किसी अभियुक्त को आरंभ में नब्बे दिन की अवधि के लिए और इसके पश्चात् नब्बे दिन की अतिरिक्त अवधि के लिए, अर्थात् कुल 180 दिन तक अभिरक्षा में रखने का निदेश दिया जा सकता है । आरोप पत्र 180 दिनों तक विस्तारित अवधि के भीतर फाइल न किए जाने की दशा में यह निदेश देने वाली शर्तें प्रवर्तनशील हो जाएंगी कि अभियुक्त व्यक्ति को जमानत पर छोड़ दिया जाएगा यदि वह जमानत देने के लिए तैयार है और दे देता है ।

18. श्री प्राचा ने यह दलील दी कि वर्तमान मामले में, तारीख 17 जुलाई, 2012 को जब अपीलार्थी की आरंभिक अभिरक्षा अवैध ठहराई गई थी, धारा 167 की उपधारा (21) के खंड (क)(ii) के अधीन कानूनी जमानत मंजूर करने संबंधी अपीलार्थी का अधिकार प्रवर्तनशील हो गया था और अपीलार्थी कानूनी जमानत मंजूर करने के लिए हकदार बन गया था

और मात्र यह तथ्य कि अभिरक्षा की अवधि में विस्तार करने संबंधी पश्चात्वर्ती आवेदन के आधार पर ऐसी अभिरक्षा का विस्तार किया गया था, अतात्विक और महत्वहीन था, जैसा कि अभियोजन पक्ष की ओर से उच्च न्यायालय में दलील दी गई थी ।

19. श्री प्राचा ने अपनी दलीलों के समर्थन में **उदय मोहनलाल आचार्य** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**¹ वाले मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया और उसका अवलंब लिया जिसमें इस न्यायालय ने **संजय दत्त** बनाम **राज्य, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के माध्यम से**² वाले मामले में इस न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चय के प्रति निर्देश करते हुए “यदि पहले उपभोग न किया हो” अभिव्यक्ति का निर्वचन इस अर्थ में किया कि मजिस्ट्रेट को धारा 167(2) के अधीन किए गए आवेदन का निपटारा तुरंत करना होता है और यह समाधान हो जाने पर कि अभियुक्त विनिर्दिष्ट अवधि के लिए अभिरक्षा में रहा था, यह कि कोई आरोप पत्र फाइल नहीं किया गया था और यह कि अभियुक्त जमानत देने के लिए तैयार था, मजिस्ट्रेट जमानत मंजूर करने के लिए बाध्य है भले ही अभियुक्त द्वारा आवेदन फाइल किए जाने के पश्चात् आरोप पत्र फाइल कर दिया गया था । श्री प्राचा ने यह दलील दी कि जब तक आरोप पत्र फाइल करने के लिए नियत अवधि के अवसान के पश्चात् आरोप पत्र फाइल किए जाने से पूर्व आवेदन लंबित था, तब तक अभियुक्त को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के परन्तुक के अधीन यथा-अनुध्यात कानूनी जमानत पर छोड़ देने का अजेय अधिकार प्राप्त था । श्री प्राचा ने यह दलील दी कि उपर्युक्त विनिश्चय वर्तमान मामले के तथ्यों के अनुरूप था, जिसमें अपीलार्थी को कानूनी जमानत मंजूर करने संबंधी आवेदन उस दिन लंबित था जब अपीलार्थी की अभिरक्षा को अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया था ।

20. श्री प्राचा ने यह दलील दी कि विद्वान् मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट तथा उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश कायम रखे जाने योग्य नहीं थे चूंकि वे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के उपबंधों का उल्लंघन करते हुए किए गए थे और इसलिए वे अपास्त किए जाने योग्य थे और अपीलार्थी कानूनी जमानत पर छोड़े जाने का हकदार था ।

¹ (2002) 5 एस. सी. सी. 453.

² (1994) 5 एस. सी. सी. 410.

21. दूसरी ओर, विद्वान् अपर महासालिसिटर श्री हरिन पी. रावल ने यह दलील दी कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के उपबंधों का उल्लंघन नहीं किया गया था क्योंकि कानूनी जमानत मंजूर किए जाने के लिए अपीलार्थी के अधिकार का तब निर्वापन हो गया था जब अभियोजन-पक्ष द्वारा तारीख 18 जुलाई, 2012 को अन्वेषण पूरा करने के लिए समय में विस्तार करने के लिए आवेदन फाइल कर दिया गया था। श्री रावल ने यह दलील दी कि यह स्थापित विधि है कि यदि किसी अभियुक्त ने आरोप पत्र फाइल करने से पूर्व दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन अनुध्यात उपचार का फायदा नहीं लिया था तो ऐसा अधिकार तब अजेय नहीं रहा था और आरोप पत्र फाइल किए जाने पर वह नगण्य हो गया था।

22. विद्वान् अपर महासालिसिटर ने अपनी दलीलों के समर्थन में **संजय दत्त** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय की संविधान पीठ के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया जिसमें विधि की उपर्युक्त प्रतिपादना पर विचार किया गया था। विद्वान् अपर महासालिसिटर ने यह दलील दी कि संविधान पीठ द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि आतंकवादी और विध्वंसकारी क्रियाकलाप (निवारण) अधिनियम, 1987 से संबंधित मामलों में 180 दिनों के भीतर अन्वेषण पूरा करने में व्यतिक्रम करने पर अभियुक्त को जमानत का अजेय अधिकार मिल गया था किन्तु व्यतिक्रम का समय चालान फाइल करने तक बना रहता है किन्तु उसके पश्चात् वह अस्तित्व में नहीं रहता है। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि चालान फाइल करने के पश्चात् जमानत मंजूर करने का विनिश्चय गुणागुण के आधार पर किया जाएगा। **डा. बिपिन शांतिलाल पंचाल** बनाम **गुजरात राज्य**¹ वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रति भी निर्देश किया गया था जिसमें इसी विधिक स्थिति पर जोर दिया गया था।

23. विद्वान् अपर महासालिसिटर ने यह दलील दी कि जब अन्वेषण पूरा करने के लिए अवधि तारीख 18 जुलाई, 2012 को विस्तारित कर दी गई थी और कानूनी जमानत के लिए अपीलार्थी का आवेदन, यदि कोई है, अविनिश्चित रह गया था तो **संजय दत्त** (उपर्युक्त) वाले मामले में और **डा. बिपिन शांतिलाल पंचाल** (उपर्युक्त) वाले पश्चात्पूर्ती मामले में के विनिश्चयों के विनिश्चयाधार के कारण कानूनी जमानत मंजूर करने के लिए अपीलार्थी का अधिकार, यदि कोई है, अकृत और शून्य हो गया था। अतः,

¹ (1996) 1 एस. सी. सी. 718.

विद्वान् अपर महासालिसिटर ने यह दलील दी कि विद्वान् अपर सेशन न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय द्वारा पारित आदेश में हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं है और अपील खारिज किए जाने योग्य है ।

24. संबंधित पक्षकारों की ओर से दी गई दलीलों, विधि के सुसंगत उपबंधों और उद्धृत विनिश्चयों पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् हम विद्वान् अपर महासालिसिटर श्री रावल द्वारा राज्य की ओर से दी गई दलीलों को स्वीकार करने में असमर्थ हैं । इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि तारीख 17 जुलाई, 2012 को, जब अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा 2012 का दांडिक पुनरीक्षण सं. 86 मंजूर किया गया था और अपीलार्थी की अभिरक्षा अवैध अभिनिर्धारित की गई थी तब अपीलार्थी की ओर से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 167(2) के अधीन कानूनी जमानत मंजूर करने के लिए एक आवेदन फाइल कर दिया गया था जिसे सुनवाई के लिए सूचीबद्ध किया गया था । मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने आवेदन की सुनवाई करने की बजाय उसे अगले दिन के लिए स्थगित कर दिया था जब लोक अभियोजक ने अभिरक्षा और अन्वेषण की अवधि में विस्तार करने के लिए आवेदन फाइल किया और उसने तारीख 20 जुलाई, 2012 को अन्वेषण और अपीलार्थी की अभिरक्षा की अवधि में तारीख 2 जून, 2012 से भूतलक्षी प्रभाव से नब्बे दिनों की अतिरिक्त अवधि के लिए विस्तार कर दिया गया था । न केवल मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के आदेश की पूर्वव्याप्ति अमान्य है बल्कि इससे उस कानूनी अधिकार को भी विफल नहीं किया जा सकेगा जो अपीलार्थी को उस तारीख से जब उसे अभिरक्षा में लिया गया था, 90 दिन के अवसान पर प्रोद्भूत हो गया था । ऐसा अधिकार, जैसा कि इस न्यायालय द्वारा **संजय दत्त** (उपर्युक्त) वाले मामले में और विद्वान् अपर महासालिसिटर द्वारा उद्धृत अन्य मामलों में इस न्यायालय द्वारा टिप्पणी की गई है, केवल तभी प्रभेदनीय है जब मामले में आरोप पत्र फाइल कर दिया जाता है और उससे पूर्व कानूनी जमानत मंजूर करने के लिए कोई आवेदन फाइल नहीं किया जाता है । यह सुस्थापित है कि यदि कोई अभियुक्त कानूनी जमानत मंजूर करने संबंधी अपने अधिकार का प्रयोग आरोप पत्र फाइल करने से पूर्व नहीं करता है तो वह ऐसे फायदे संबंधी अपने अधिकार को उस समय खो देता है जब आरोप पत्र फाइल कर दिया जाता है और वह इसके पश्चात् केवल नियमित जमानत के लिए आवेदन कर सकता है ।

25. तथापि, इस मामले में की परिस्थितियां इन अर्थों में भिन्न हैं कि

अपीलार्थी ने उसी दिन कानूनी जमानत संबंधी अपने अधिकार का प्रयोग कर दिया था जिसको उसकी अभिरक्षा अवैध अभिनिर्धारित की गई थी और मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट द्वारा उस आवेदन को तब तक के लिए अविनिश्चित छोड़ दिया गया था जब तक अभियोजन-पक्ष द्वारा अन्वेषण पूरा करने के लिए समय में विस्तार करने संबंधी आवेदन पर कार्यवाही नहीं कर दी गई थी और उस पर आदेश पारित नहीं कर दिया गया था ।

26. हम मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट द्वारा अपनाई गई उस प्रक्रिया का मूल्यांकन करने में असमर्थ हैं जिसका समर्थन उच्च न्यायालय द्वारा किया गया है और हमारा यह मत है कि अपीलार्थी ने तारीख 17 जुलाई, 2012 को जब अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा उसकी अभिरक्षा को अवैध ठहराया गया था, कानूनी जमानत मंजूर किए जाने के लिए अधिकार अर्जित कर लिया था चूंकि कानूनी जमानत के लिए उसका आवेदन उस समय लंबित था जब अभियोजन-पक्ष द्वारा अन्वेषण जारी रखने के लिए समय में विस्तार करने के लिए आवेदन फाइल किया गया था । हमारी राय में, कानूनी जमानत मंजूर करने संबंधी अपीलार्थी का अधिकार पश्चात्पूर्ती आवेदन द्वारा अप्रभावित बना रहा और मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट और उच्च न्यायालय ने अन्यथा अभिनिर्धारित करके गलती की है ।

27. अतः, हम अपील मंजूर करते हैं, मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट द्वारा पारित तारीख 20 जुलाई, 2012 के उस आदेश को, जिसके द्वारा अन्वेषण और अभियुक्त की अभिरक्षा के समय को तारीख 2 जून, 2012 से भूतलक्षी प्रभाव से नब्बे दिनों के लिए बढ़ाया गया था और इस अपील में आक्षेपित उच्च न्यायालय के तारीख 2 जुलाई, 2012, 6 जुलाई, 2012 और 6 अगस्त, 2012 के आदेशों को अपास्त करते हैं और यह निदेश देते हैं कि अपीलार्थी को मुख्य मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट के समाधानप्रद रूप में ऐसी शर्तों पर, जो कि उपयुक्त और उचित समझी जाएं, जिनमें पासपोर्ट का अभ्यर्पण, स्थानीय पुलिस थाने में रिपोर्ट करना और न्यायालय की इजाजत के बिना उस शहर की सीमाओं से बाहर न जाना शामिल है, जहां अपीलार्थी निवास कर रहा होगा जमानत पर छोड़ दिया जाए जिससे कि विचारण के समय अभियुक्त-अपीलार्थी की उपस्थिति सुनिश्चित की जा सके ।

अपीलें मंजूर की गई ।

ग्रो.

बूसी कोटेश्वर राव

बनाम

आंध्र प्रदेश राज्य

22 नवम्बर, 2012

न्यायमूर्ति पी. सदाशिवम् और न्यायमूर्ति रंजन गोगई

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 148, 149 और 436 – गुटबंदी – झगड़ा – हिंसा – विचारण – न्यायालय का संतुलित दृष्टिकोण – ऐसे मामलों में जिनमें अभियुक्तों की संख्या अधिक होती है, न्यायालय द्वारा संतुलित दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए और ऐसे साक्षियों के परिसाक्ष्यों का अवलंब लेने के लिए सावधानी बरतनी चाहिए जो अभियुक्तों द्वारा किए गए विशेष कृत्य का उल्लेख किए बिना साक्ष्य देते हैं।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 148, 149 और 436 – कई अपराधियों द्वारा अपराध – बड़ी संख्या में लोगों का आहत होना – साक्ष्य द्वारा समर्थन – जब न्यायालय को ऐसे किसी अपराध के कारित किए जाने से संबंधित साक्ष्य पर विचार करना होता है जो अपराधियों की एक बड़ी संख्या द्वारा किया गया हो और अपराध में आहतों की संख्या भी अधिक हो, तो दोषसिद्धि केवल तब की जा सकती है जब उसका समर्थन दो या दो से अधिक ऐसे साक्षियों द्वारा किया जाए जिन्होंने प्रश्नगत घटना के संबंध में साक्ष्य दिया है।

मंदिरों की भूमि के बाबत ग्राम पेडागारलापाडु, जिला गुन्टूर, आन्ध्र प्रदेश में दो गुटों के बीच विवाद चल रहा था और यह भूमि, विन्यास विभाग द्वारा ग्राम के उच्च जाति के लोगों को पट्टे पर दी गई थी जिस पर स्थानीय दलितों को आपत्ति थी। एक दिन आंदोलनकारियों ने उक्त भूमि में अतिचार किया जिसके संबंध में पट्टाधारक पिन्म पेडा सुबड़्या ने परिवाद फाइल किया जिसके परिणामस्वरूप दोनों गुटों के बीच गहरी शत्रुता हो गई। अन्य पक्षकार ने बदला लेने हेतु पट्टाधारक की हत्या करने के लिए उस पर हमला किया। इसके प्रत्युत्तर में अभियुक्त/अपीलार्थियों ने घातक हथियारों से लैस होकर विधि-विरुद्ध जमाव गठित किया, हरिजन कालोनी पर हमला बोला और अभियोजन पक्ष

के लोगों के घरों में आग लगा दी और उनकी जाति का नाम लेते हुए उन्हें गालियां दीं। दाचेपल्ली (पुलिस निरीक्षक) ने अन्वेषण संभाला और आपराधिक मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया और इसके पश्चात् यह मामला अपराध अन्वेषण विभाग (सी आई डी) को स्थानान्तरित कर दिया गया। पुलिस उपाधीक्षक, सी आई डी, विजयवाड़ा ने दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 147, 148, 435 और 436 अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 की धारा 3(1)(v), 3(1)(x), 3(2)(v) और 3(2)(iv) के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए आरोप पत्र फाइल किया। मामलों को 'अनुसूचित जाति अधिनियम' के अधीन विशेष सेशन न्यायालय, गुन्टूर को सुपुर्द कर दिया गया। इन दोनों मामलों में अलग-अलग आदेश करके इस मामले में के अपीलार्थियों और अन्य व्यक्तियों को दंड संहिता की धारा 148 और 436 के अधीन दंडनीय अपराधों का दोषी पाया। दोषसिद्धि और दंडादेश के आदेश से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष फाइल की गई। आक्षेपित आदेश द्वारा उच्च न्यायालय ने अपीलों को भागतः मंजूर किया और अन्य अभियुक्तों की दोषसिद्धि और दंडादेश को अपास्त करते हुए दंड संहिता की धारा 148 और 436 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए, इस मामले में के अपीलार्थियों की दोषसिद्धि कायम रखी किन्तु दंड संहिता की धारा 436 के अधीन दंडनीय अपराध के दंडादेश को सात वर्ष से कम करके 3 वर्ष किया और जुर्माने की रकम को ऐसे ही बनाए रखा। उक्त आदेश से व्यथित होकर विशेष इजाजत द्वारा इस न्यायालय के समक्ष दांडिक अपीलें फाइल की हैं। अपीलें खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारत – अभियोजन पक्ष के अनुसार एक ही गांव के दो गुटों के बीच तनाव था। अभियोजन पक्ष के लोग तेलुगुदेशम पार्टी के हैं और अभियुक्त पक्ष के लोग कांग्रेस (आई) पार्टी के हैं। अभियोजन पक्ष द्वारा यह भी दर्शाया गया है कि दोनों पार्टियों के बीच मंदिर की भूमि के पट्टे के बाबत राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता के अतिरिक्त गहरी दुश्मनी भी है। इस संबंध में कोई भी विवाद नहीं है कि तारीख 14 अप्रैल, 1997 को हुई घटना का कारण दो प्रतिद्वन्द्वियों के बीच टकराव था। इस प्रकार की घटनाओं में दांडिक न्यायालयों का यह सभार कर्तव्य है कि वे यह सुनिश्चित करें कि कोई भी निर्दोष व्यक्ति दोषसिद्ध न किया जाए और न ही अपने स्वातंत्र्य से वंचित रहे। साथ ही, गुटों के टकराव और संगठित अपराध के मामले में जो व्यक्ति परदे में रहकर अपराध कारित करते हैं, वे

बचकर नहीं जाने चाहिए। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ऐसे मामलों में जिनमें अभियुक्तों की संख्या बहुत अधिक होती है, न्यायालय द्वारा संतुलित दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। इस न्यायालय ने बहुत से विनिश्चयों में यह अभिनिर्धारित किया है कि आगजनी और हत्या के ऐसे मामलों में जिनमें लोगों की एक बड़ी संख्या अभियुक्त होती है, न्यायालयों को ऐसे साक्षियों के परिसाक्ष्य का अवलंब लेने के लिए सावधानी बरतनी चाहिए जो आमतौर पर अभियुक्त का विशेष निर्देश किए बिना या अभियुक्त द्वारा किए गए विशेष कृत्य का उल्लेख किए बिना साक्ष्य देते हैं। यह स्पष्ट है कि जब दांडिक न्यायालय को ऐसे किसी अपराध के कारित किए जाने से संबंधित साक्ष्य पर विचार करना होता है जो अपराधियों की एक बड़ी संख्या द्वारा कारित किया गया है और उस अपराध के आहतों की संख्या भी अधिक है, तब यह कसौटी अपनाई जाती है कि दोषसिद्धि केवल तब की जा सकती है जब उसका समर्थन दो या अधिक ऐसे साक्षियों द्वारा किया जाए जिन्होंने प्रश्नगत घटना का संगत साक्ष्य दिया है। (पैरा 5 और 7)

न्यायालय दो गुटों के बीच हुए झगड़े में अभियुक्त को दोषसिद्ध करने के लिए अपेक्षाओं को मसलती वाले मामले के अनुसार पहले ही कोट कर चुका है और यह मामला इस न्यायालय की बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा विनिश्चित किया गया है। इस मामले के आधार पर हम दोहराते हुए यह अभिनिर्धारित करते हैं कि जब कोई विधि-विरुद्ध जमाव या बहुत से व्यक्ति आगजनी या दो गुटों के बीच झगड़े में भाग लेते हैं तब किसी व्यक्ति को दोषसिद्ध करने के लिए कम से कम दो अभियोजन साक्षियों को समर्थन करना चाहिए और अपराध से संबद्ध व्यक्तियों की भूमिका और अंतर्वलन की शनाख्त करनी चाहिए। उपरोक्त पृष्ठभूमि के आधार पर न्यायालय ने इस पर विचार किया है कि क्या 2009 की दांडिक अपील सं. 454 में के अभियुक्त सं. 1, अभियुक्त सं. 4 और अभियुक्त सं. 30 और 2009 की दांडिक अपील सं. 455 में के अभियुक्त सं. 1, अभियुक्त सं. 11, अभियुक्त सं. 12, अभियुक्त सं. 13 से अभियुक्त सं. 15, अभियुक्त सं. 17, अभियुक्त सं. 19, अभियुक्त सं. 21, अभियुक्त सं. 22, अभियुक्त सं. 24 और अभियुक्त सं. 25 को दोषसिद्ध करने वाला उच्च न्यायालय का आक्षेपित निर्णय कायम रखे जाने योग्य है या नहीं। (पैरा 9 और 10)

अब दंडादेश के प्रश्न पर विचार करेंगे, अभियोजन पक्ष ने दंड संहिता की धारा 148 और धारा 436 के अधीन अपराध सिद्ध किए हैं। जहां तक

अपीलार्थियों का संबंध, यद्यपि विचारण न्यायालय ने सात वर्ष का कारावास अधिनिर्णीत किया है फिर भी उच्च न्यायालय ने इसे कम करके 3 वर्ष किया है जबकि जुर्माने की रकम को कायम रखा है। वास्तव में, दंड संहिता की धारा 436 के अधीन न्यायालय को जुर्माने के साथ-साथ आजीवन कारावास या ऐसे कारावास का दंड अधिनिर्णीत करने की शक्ति प्राप्त है जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी। हमने पहले ही इस पर विचार किया है कि अभि. सा. 1 से 42 के आवासीय मकानों को उपरोक्त अपीलार्थियों/अभियुक्तों द्वारा आग में जला कर राख कर दिया गया है और यह तथ्य अभियोजन पक्ष द्वारा युक्तियुक्त संदेह के परे सम्यक् रूप से सिद्ध किया गया है। दंड संहिता की धारा 436 के अधीन विहित दंडादेश पर विचार करते हुए न्यायालय का यह मत है कि उच्च न्यायालय द्वारा दंडादेश में की गई कमी की आवश्यकता नहीं है, तथापि, राज्य द्वारा अपील न किए जाने पर न्यायालय हस्तक्षेप करना नहीं चाहता है। (पैरा 13)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

- [1997] (1997) 3 एस. सी. सी. 747 :
उत्तर प्रदेश राज्य बनाम दान सिंह और अन्य ; 8
- [1965] ए. आई. आर. 1965 एस. सी. 202 :
मसलती और अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य । 6,12
- अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2009 की दांडिक अपील सं. 454.
(साथ ही 2009 की दांडिक अपील सं. 455 की भी सुनवाई की गई)**

2003 की दांडिक अपील सं. 368 और 367 में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय, हैदराबाद के क्रमशः तारीख 20 जून, 2007 और 13 जून, 2007 के अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से श्री वी. श्रीधर रेड्डी

प्रत्यर्थी की ओर से श्री मायूर आर. शाह

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति पी. सदाशिवम् ने दिया।

न्या. सदाशिवम् – ये अपीलें 2003 की दांडिक अपील सं. 368 और

367 में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय, हैदराबाद के क्रमशः तारीख 20 जून, 2007 और 13 जून, 2007 के उन अंतिम निर्णय और आदेशों के विरुद्ध फाइल की गई हैं जिनके द्वारा उच्च न्यायालय ने अन्य अभियुक्त की दोषसिद्धि और दंडादेश को अपास्त करते हुए दांडिक अपील को भागतः मंजूर किया था और उसमें के अपीलार्थियों की दोषसिद्धि को भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 148 और 436 के अधीन अपराधों के लिए कायम रखा था और दंड संहिता की धारा 436 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए 7 वर्ष के कारावास को कम करके 3 वर्ष किया था किन्तु जुर्माने की रकम को उतना ही रखा था और इस मामले में के अपीलार्थियों को यह निदेश दिया कि वे दंड की शेष अवधि के कारावास को भुगतने के लिए विचारण न्यायालय के समक्ष अम्यर्पण करें ।

2. संक्षिप्त तथ्य :-

(क) मंदिरों की भूमि के बाबत ग्राम पेडागारलापाडु, जिला गुन्दूर, आन्ध्र प्रदेश में दो गुटों के बीच विवाद चल रहा था और यह भूमि, विन्यास विभाग द्वारा ग्राम के उच्च जाति के लोगों को पट्टे पर दी गई थी जिस पर स्थानीय दलितों को आपत्ति थी । एक दिन आंदोलनकारियों ने उक्त भूमि में अतिचार किया जिसके संबंध में पट्टाधारक पिन्म पेडा सुबड्या ने परिवाद फाइल किया जिसके परिणामस्वरूप दोनों गुटों के बीच गहरी शत्रुता हो गई ।

(ख) अन्य पक्षकार ने बदला लेने हेतु पट्टाधारक की हत्या करने के लिए उस पर हमला किया । इसके प्रत्युत्तर में तारीख 14 अप्रैल, 1997 को अभियुक्त/अपीलार्थियों ने घातक हथियारों से लैस होकर विधि-विरुद्ध जमाव गठित किया, हरिजन कालोनी पर हमला बोला और अभियोजन पक्ष के लोगों के लगभग 50 घरों में आग लगा दी और उनकी जाति का नाम लेते हुए उन्हें गालियां दीं ।

(ग) दाचेपल्ली (पुलिस निरीक्षक) ने अन्वेषण संभाला और 1997 का आपराधिक मामला सं. 29 और 28 रजिस्ट्रीकृत किया गया और इसके पश्चात् यह मामला अपराध अन्वेषण विभाग (सी आई डी) को स्थानान्तरित कर दिया गया । पुलिस उपाधीक्षक, सी आई डी, विजयवाड़ा ने दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 147, 148, 435 और 436 अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 (संक्षेप में 'अनुसूचित जाति अधिनियम' कहा गया है) की धारा 3(1)(v),

3(1)(x), 3(2)(v) और 3(2)(iv) के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए आरोप पत्र फाइल किया ।

(घ) मामलों को 'अनुसूचित जाति अधिनियम' के अधीन विशेष सेशन न्यायालय, गुन्डूर को सुपुर्द कर दिया गया और 63/एस/2000 और 62/एस/2000 के रूप में नंबरीकृत किया गया । इन दोनों मामलों में तारीख 24 मार्च, 2003 के अलग-अलग आदेश करके इस मामले में के अपीलार्थियों और अन्य व्यक्तियों को दंड संहिता की धारा 148 और 436 के अधीन दंडनीय अपराधों का दोषी पाया और धारा 148 के लिए प्रत्येक को एक-एक वर्ष का कठोर कारावास भोगने और दो-दो हजार रुपए जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर एक मास का अतिरिक्त कारावास भोगने और धारा 149 के साथ पठित धारा 436 के लिए सात वर्ष का कठोर कारावास भोगने और 10,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने जिसका व्यतिक्रम किए जाने पर अतिरिक्त 2 मास का साधारण कारावास भोगने का दंडादेश दिया ।

(ङ) दोषसिद्धि और दंडादेश के उक्त आदेश से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष 2003 की अपील सं. 368 और 367 फाइल की गई ।

(च) 2003 की दांडिक अपील सं. 368 में तारीख 20 जून, 2007 के आक्षेपित आदेश और 2003 की दांडिक अपील सं. 367 में तारीख 13 जून, 2007 के आक्षेपित आदेश द्वारा उच्च न्यायालय ने अपीलों को भागतः मंजूर किया और अन्य अभियुक्तों की दोषसिद्धि और दंडादेश को अपास्त करते हुए दंड संहिता की धारा 148 और 436 के अधीन दंडनीय अपराध के लिए, इस मामले में के अपीलार्थियों की दोषसिद्धि कायम रखी किन्तु दंड संहिता की धारा 436 के अधीन दंडनीय अपराध के दंडादेश को सात वर्ष से कम करके 3 वर्ष किया और जुर्माने की रकम को ऐसे ही बनाए रखा ।

(छ) उक्त आदेश से व्यथित होकर बूसी कोटेश्वर राव (अभियुक्त सं. 1), पिन्म नागेश्वर राव (अभियुक्त सं. 4) और बूसा मतइया ने 2009 की दांडिक अपील सं. 454 फाइल की है और बूसी कोटेश्वर राव (अभियुक्त सं. 1), कटाकम पेड्डा विक्षम (अभियुक्त सं. 11), कटाकम चीना बिक्षम (अभियुक्त सं. 12), बूसा मतइया (अभियुक्त सं. 13), बूसा कोटइया (अभियुक्त सं. 14), पिन्म रंगइया (अभियुक्त सं. 15), पिन्म संकर (अभियुक्त सं. 17), पिन्म नागेश्वर राव (अभियुक्त सं. 19), बूसा

श्रीणु (अभियुक्त सं. 21), मरासू वेंकटास्वामी (अभियुक्त सं. 22), पिन्नम रमन (अभियुक्त सं. 24) और पिन्नम चीना सुबइया (अभियुक्त सं. 25) ने विशेष इजाजत द्वारा इस न्यायालय के समक्ष 2009 की दांडिक अपील सं. 455 फाइल की है।

3. अपीलार्थी/अभियुक्तों की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री वी. श्रीधर रेड्डी और प्रत्यर्थी राज्य की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री मयूर आर. शाह को सुना गया है।

4. वर्तमान मामले में दंड संहिता की धारा 147, 148 और 436 सहित दंड संहिता के अधीन अनेक अपराधों के लिए कुल मिलाकर 79 व्यक्तियों को आरोपपत्रित किया गया था। यद्यपि अभियोजन पक्ष ने अपने पक्षकथन के समर्थन में 52 साक्षियों की परीक्षा की है और 12 दस्तावेज प्रदर्शित किए हैं, इन साक्षियों में से अभि. सा. 1 से अभि. सा. 42 को घटना के प्रत्यक्षदर्शी साक्षी के रूप में उद्धृत किया गया है। तारीख 14 अप्रैल, 1997 को एक ही ग्राम के दो गुटों के बीच हुई आगजनी और हिंसा की घटना के कारण लगभग 50 आवासीय मकान जलकर राख हो गए। अभि. सा. 2, अभि. सा. 4 से 15, अभि. सा. 18, अभि. सा. 20, अभि. सा. 26 से 41 ने अभियोजन पक्षकथन का समर्थन नहीं किया है और उन्हें पक्षद्रोही साक्षी घोषित किया गया है। इसके प्रतिकूल, अभि. सा. 1, 3, 16, 17, 19, 21, 24, 25 और 42 ने अभियोजन पक्ष के वृत्तांत का समर्थन किया है।

5. अभियोजन पक्ष के अनुसार एक ही गांव के दो गुटों के बीच तनाव था। अभियोजन पक्ष के लोग तेलुगुदेशम पार्टी के हैं और अभियुक्त पक्ष के लोग कांग्रेस (आई) पार्टी के हैं। अभियोजन पक्ष द्वारा यह भी दर्शाया गया है कि दोनों पार्टियों के बीच मंदिर की भूमि के पट्टे के बाबत राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता के अतिरिक्त गहरी दुश्मनी भी है। इस संबंध में कोई भी विवाद नहीं है कि तारीख 14 अप्रैल, 1997 को हुई घटना का कारण दो प्रतिद्वन्द्वियों के बीच टकराव था। इस प्रकार की घटनाओं में दांडिक न्यायालयों का यह सभार कर्तव्य है कि वे यह सुनिश्चित करें कि कोई भी निर्दोष व्यक्ति दोषसिद्ध न किया जाए और न ही अपने स्वातंत्र्य से वंचित रहे। साथ ही, गुटों के टकराव और संगठित अपराध के मामले में जो व्यक्ति परदे में रहकर अपराध कारित करते हैं, वे बचकर नहीं जाने चाहिए। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ऐसे मामले में जिनमें

अभियुक्तों की संख्या बहुत अधिक होती है, न्यायालय द्वारा संतुलित दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। इस न्यायालय ने बहुत से विनिश्चयों में यह अभिनिर्धारित किया है कि आगजनी और हत्या के ऐसे मामलों में जिनमें लोगों की एक बड़ी संख्या अभियुक्त होती है, न्यायालयों को ऐसे साक्षियों के परिसाक्ष्य का अवलंब लेने के लिए सावधानी बरतनी चाहिए जो आम तौर पर अभियुक्त का विशेष निर्देश किए बिना या अभियुक्त द्वारा किए गए विशेष कृत्य का उल्लेख किए बिना साक्ष्य देते हैं।

6. वर्ष 1965 में ही इस न्यायालय की बृहत्तर न्यायपीठ ने **मसलती और अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य¹** वाले मामले में इस बात पर विचार किया है कि अभियोजन पक्षकथन पर किस प्रकार विश्वास किया जाना चाहिए। इस विनिश्चय के पैरा 16 में अधिकथित सिद्धांत हैं जो निम्न प्रकार है :-

“16. श्री साहनी ने भी यह दलील दी है कि अपीलार्थियों को दोषसिद्ध करने के लिए उच्च न्यायालय द्वारा अपनाई गई कसौटी यन्त्रवत् है। उन्होंने यह दलील दी है कि भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 के अधीन केवल एक ही साक्षी द्वारा दिया गया विश्वसनीय साक्ष्य अभियुक्त को दोषसिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगा जबकि आधा दर्जन साक्षियों द्वारा दिए गए ऐसे साक्ष्य के आधार पर दोषसिद्धि नहीं की जा सकती है जो विश्वासप्रद नहीं है। निःसंदेह यह बात सत्य है, किन्तु जब दांडिक न्यायालयों को ऐसे अपराध के कारित किए जाने से संबंधित साक्ष्य पर विचार करना हो जिसे बहुत से अपराधियों ने मिलकर कारित किया है और जिसके परिणामस्वरूप एक बड़ी संख्या में लोग आहत हुए हैं तब आम तौर पर यह तरीका अपनाया जाता है कि दोषसिद्धि केवल तब की जाए जब उसका समर्थन दो या तीन या उससे अधिक ऐसे साक्षियों द्वारा किया जाए जो घटना का संगत वर्णन करें। अर्थात्, इस कसौटी को यन्त्रवत् कहा जा सकता है; किन्तु यह पता लगाना कठिन होगा कि इसे अनुचित या अयुक्तियुक्त कैसे माना जाए। अतः, हमारा यह विचार है कि इस कसौटी को अपनाए जाने पर अपीलार्थियों द्वारा कोई भी शिकायत नहीं की जा सकती है। कुछ भी हो, अभियोजन पक्ष यह कहने का हकदार हो सकता है कि सात अभियुक्त दोषमुक्त कर दिए

¹ ए. आई. आर. 1965 एस. सी. 202.

गए क्योंकि उनके मामले में चार साक्षियों का साक्ष्य यन्त्रवत् परीक्षण की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है और यदि उक्त कसौटी नहीं अपनाई जाती तो उन्हें दोषसिद्ध किया जा सकता था । निःसंदेह, साक्ष्य की कोटि महत्वपूर्ण है न कि साक्ष्य देने वाले साक्षियों की संख्या । किन्तु कभी-कभी उस कसौटी को अपनाना लाभप्रद होगा जिसे उच्च न्यायालय ने वर्तमान मामले पर विचार करने के लिए अपनाया है ।”

7. यह स्पष्ट है कि जब दांडिक न्यायालय को ऐसे किसी अपराध के कारित किए जाने से संबंधित साक्ष्य पर विचार करना होता है जो अपराधियों की एक बड़ी संख्या द्वारा कारित किया गया है और उस अपराध के आहतों की संख्या भी अधिक है, तब यह कसौटी अपनाई जाती है कि दोषसिद्धि केवल तब की जा सकती है जब उसका समर्थन दो या अधिक ऐसे साक्षियों द्वारा किया जाए जिन्होंने प्रश्नगत घटना का संगत साक्ष्य दिया है ।

8. निःसंदेह **उत्तर प्रदेश राज्य बनाम दान सिंह और अन्य¹** वाले मामले में खंड न्यायपीठ ने इस निर्णय के पैरा 48 में यह अभिनिर्धारित किया है :—

“.....प्रत्यर्थियों में से केवल उन्हीं व्यक्तियों को विधिविरुद्ध जमाव का सदस्य अभिनिर्धारित करना उचित होगा जिनकी विशिष्ट रूप से शनाख्त कम से कम चार प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों द्वारा की गई हो।”

9. हम दो गुटों के बीच हुए झगड़े में अभियुक्त को दोषसिद्ध करने के लिए अपेक्षाओं को **मसलती** (उपरोक्त) वाले मामले के अनुसार पहले ही कोट कर चुके हैं और यह मामला इस न्यायालय की बृहत्तर न्यायपीठ द्वारा विनिश्चित किया गया है । इस मामले के आधार पर हम दोहराते हुए यह अभिनिर्धारित करते हैं कि जब कोई विधिविरुद्ध जमाव या बहुत से व्यक्ति आगजनी या दो गुटों के बीच झगड़े में भाग लेते हैं तब किसी व्यक्ति को दोषसिद्ध करने के लिए कम से कम दो अभियोजन साक्षियों को समर्थन करना चाहिए और अपराध से संबद्ध व्यक्तियों की भूमिका और अंतर्वलन की शनाख्त करनी चाहिए ।

¹ (1997) 3 एस. सी. सी. 747.

10. उपरोक्त पृष्ठभूमि के आधार पर हम इस पर विचार करेंगे कि क्या 2009 की दांडिक अपील सं. 454 में के अभियुक्त सं. 1, अभियुक्त सं. 4 और अभियुक्त सं. 30 और 2009 की दांडिक अपील सं. 455 में के अभियुक्त सं. 1, अभियुक्त सं. 11, अभियुक्त सं. 12, अभियुक्त सं. 13 से अभियुक्त सं. 15, अभियुक्त सं. 17, अभियुक्त सं. 19, अभियुक्त सं. 21, अभियुक्त सं. 22, अभियुक्त सं. 24 और अभियुक्त सं. 25 को दोषसिद्ध करने वाला उच्च न्यायालय का आक्षेपित निर्णय कायम रखे जाने योग्य हैं या नहीं ।

11. हमारा ध्यान उन साक्षियों के कथनों की ओर दिलाया गया है जिन्होंने अभियोजन पक्षकथन का समर्थन किया है । हमने सभी संसुगत दस्तावेजों और संबंधित कागजातों का परिशीलन किया है । जैसाकि उच्च न्यायालय द्वारा चर्चा की गई है, अभि. सा. 1 से अभि. सा. 21 ने अभियुक्त सं. 1 और अभियुक्त सं. 38 द्वारा अपराध में भाग लिए जाने के बाबत साक्ष्य दिया है और अभि. सा. 3 और अभि. सा. 42 ने अभियुक्त सं. 4 द्वारा अपराध में भाग लिए जाने और अभि. सा. 16 और अभि. सा. 17 ने अभियुक्त सं. 30 द्वारा अपराध में भाग लिए जाने के संबंध में साक्ष्य दिया है । इसी प्रकार, 2009 की दांडिक अपील सं. 455 में के ऊपर उल्लिखित 12 अभियुक्तों द्वारा अपराध में भाग लिए जाने के संबंध में दो या अधिक साक्षियों ने साक्ष्य दिया है ।

12. **मसलती** (उपरोक्त) वाले मामले में अधिकथित सिद्धांतों को लागू करते हुए और जैसा कि हमने उपरोक्त पैराओं में दोहराया है और क्योंकि कम से कम दो अभियोजन साक्षियों ने उपरोक्त अभियुक्तों के अपराध में अंतर्वर्तित होने और अपराध में उनकी भूमिका के बाबत साक्ष्य दिया है, इसलिए उच्च न्यायालय के विनिश्चय से भिन्न निष्कर्ष निकालने का हमें कोई कारण दिखाई नहीं देता है । अभियोजन पक्ष की ओर से प्रस्तुत किए गए साक्षियों द्वारा किए गए कथनों से यह स्पष्ट हो गया है कि अपीलार्थी/अभियुक्त एक साथ इकट्ठे होकर आए थे और उन्होंने लगभग 50 आवासीय मकानों में आग लगाई और उन्हें जलाकर राख कर दिया और युक्तियुक्त संदेह के परे विश्वसनीय अभियोजन साक्षियों द्वारा उन अपराधियों की शनाख्त की गई है और उनका अपराध में अन्तर्वर्तित होना भी सिद्ध किया गया है जिसमें कोई भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है । इसके प्रतिकूल, हम उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत और आत्यंतिक विनिश्चय का पूर्णतया अनुमोदन करते हैं ।

13. अब दंडादेश के प्रश्न पर विचार करेंगे, अभियोजन पक्ष ने दंड संहिता की धारा 148 और धारा 436 के अधीन अपराध सिद्ध किए हैं। जहां तक अपीलार्थियों का संबंध, यद्यपि विचारण न्यायालय ने सात वर्ष का कारावास अधिनिर्णीत किया है फिर भी उच्च न्यायालय ने इसे कम करके 3 वर्ष किया है जबकि जुर्माने की रकम को कायम रखा है। वास्तव में, दंड संहिता की धारा 436 के अधीन न्यायालय को जुर्माने के साथ-साथ आजीवन कारावास या ऐसे कारावास का दंड अधिनिर्णीत करने की शक्ति प्राप्त है जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी। हमने पहले ही इस पर विचार किया है कि अभि. सा. 1 से 42 के आवासीय मकानों को उपरोक्त अपीलार्थियों/अभियुक्तों द्वारा आग में जला कर राख कर दिया गया है और यह तथ्य अभियोजन पक्ष द्वारा युक्तियुक्त संदेह के परे सम्यक् रूप से सिद्ध किया गया है। दंड संहिता की धारा 436 के अधीन विहित दंडादेश पर विचार करते हुए हमारा यह मत है कि उच्च न्यायालय द्वारा दंडादेश में की गई कमी की आवश्यकता नहीं है, तथापि, राज्य द्वारा अपील न किए जाने पर हम इसमें हस्तक्षेप करना नहीं चाहते हैं।

14. उपरोक्त चर्चा के आधार पर, दोनों अपीलें खारिज की जाती हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि इस न्यायालय ने तारीख 6 मार्च, 2009 को सभी अपीलार्थियों को जमानत पर छोड़ दिया था, यदि दंडादेश की अवधि का कोई भाग शेष रह गया है तो उन्हें शेष दंडादेश भोगने के लिए आज से दो सप्ताह की अवधि के भीतर अभ्यर्पण करने का निदेश दिया जाता है।

अपीलें खारिज की गईं।

अस./अनु.

[2013] 3 उम. नि. प. 107

पूर्णो अगितोक संगमा

बनाम

प्रणव मुखर्जी

5 दिसम्बर/11 दिसम्बर, 2012

मुख्य न्यायमूर्ति अल्लमस कबीर, न्यायमूर्ति पी. सदाशिवम्, न्यायमूर्ति सुरिन्दर सिंह निज्जर, न्यायमूर्ति चेलामेश्वर और न्यायमूर्ति रंजन गोगोई

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 58, 102 और 191 – राष्ट्रपतीय निर्वाचन – लाभ का पद धारण करने के आधार पर अनुच्छेद 58(2) के अधीन निरर्हता – किसी पद को लाभ के पद के रूप में प्रवर्गीकृत करना मात्र पर्याप्त नहीं होगा क्योंकि किसी पद को लाभ का पद केवल तभी समझा जाना चाहिए जब उस पद के साथ विभिन्न धनीय फायदे जुड़े हों या वह पद धनीय फायदे पहुंचाने में समर्थ हो ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 58, 145 और 71 [सपठित संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 की धारा 3 और उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के नियम 13 और 20] – राष्ट्रपतीय निर्वाचन – निरर्हता – लाभ का पद – चूंकि भारतीय सांख्यिकी संस्थान के अध्यक्ष का पद लाभ का पद नहीं है और उसे 1959 के अधिनियम द्वारा भी लाभ के पद के आधार पर निरर्हता की परिधि से अपवर्जित किया गया है, इसलिए राष्ट्रपति के निर्वाचन को इस आधार पर चुनौती देने वाली अर्जी नियमित सुनवाई किए जाने योग्य नहीं है कि नामनिर्देशन पत्र फाइल करने के समय वह उस पद को धारण किए हुए था ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 58 और अनुच्छेद 102 [सपठित संसद् में मान्यताप्राप्त दलों तथा समूहों के नेता और मुख्य सचेतक (प्रसुविधाएं) अधिनियम, 1998 की धारा 1] – राष्ट्रपतीय निर्वाचन – सदन के नेता और दल के नेता के पद – निर्वाचन संबंधी निरर्हता – चूंकि सदन के नेता या संसद् में दल के नेता को उस वेतन और परिलब्धियों के अलावा कोई पारिश्रमिक संदत्त नहीं किया जाता है, जो ऐसे धारक को तब संदेय होती है जब वह केन्द्रीय सरकार के मंत्री का पद धारण करता है इसलिए इन पदों के धारक राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने के लिए निरर्हित नहीं होते हैं तथा केन्द्रीय/राज्य सरकारों के मंत्रियों के बारे में यह नहीं समझा जाता है

कि वे अनुच्छेद 58(2) और अनुच्छेद 102(1) के अधीन निरर्हता के प्रयोजनार्थ लाभ का कोई पद धारण किए हुए हैं ।

प्रस्तुत मामले में अर्जीदार तारीख 19 जुलाई, 2012 को हुए राष्ट्रपतीय निर्वाचनों में एक अभ्यर्थी था, जिसका परिणाम तारीख 22 जुलाई, 2012 को घोषित किया गया था । अर्जीदार और प्रत्यर्थी केवल दो ही सम्यक् रूप से नामनिर्दिष्ट अभ्यर्थी थे । प्रत्यर्थी ने जो मत प्राप्त किए थे उनका मूल्य 7,13,763 था और उसे भारत के राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित घोषित किया गया था । दूसरी ओर, अर्जीदार ने जो मत प्राप्त किए थे उनका मूल्य 3,15,987 था । अर्जीदार ने भारत के राष्ट्रपति के रूप में प्रत्यर्थी के निर्वाचन को इस आधार पर चुनौती दी है कि वह भारत के संविधान के अनुच्छेद 58 के उपबंधों के आधार पर राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने के लिए पात्र नहीं था । अर्जीदार के अनुसार, प्रत्यर्थी राष्ट्रपतीय निर्वाचनों के लिए अभ्यर्थी के रूप में नामनिर्देशन पत्र फाइल करने के समय भारतीय सांख्यिकी संस्थान परिषद्, कलकत्ता के अध्यक्ष का पद धारण किए हुए था, जो कि उसके अनुसार एक लाभ का पद था । ऐसा प्रतीत होता है कि तारीख 2 जुलाई, 2012 को नामनिर्देशन पत्रों की संवीक्षा के समय अर्जीदार के प्राधिकृत प्रतिनिधि द्वारा, जिसने यह दलील दी थी कि प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन पत्र खारिज किए जाने योग्य हैं, रिटर्निंग आफिसर के समक्ष इस आशय का एक आक्षेप उठाया गया था । उक्त दलील के उत्तर में, प्रत्यर्थी के प्रतिनिधि ने अर्जीदार द्वारा किए गए आक्षेपों का उत्तर फाइल करने के लिए दो दिन के समय की ईप्सा की थी । इसके पश्चात्, अर्जीदार द्वारा किए गए आक्षेपों के संबंध में तारीख 3 जुलाई, 2012 को प्रत्यर्थी की ओर से रिटर्निंग आफिसर के समक्ष एक लिखित उत्तर फाइल किया गया था, जिसके साथ तारीख 20 जून, 2012 के त्यागपत्र की प्रति भी संलग्न की गई थी जिसके द्वारा प्रत्यर्थी ने यह दावा किया था कि उसने संस्थान के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया है । श्री चरण लाल साहू द्वारा किए गए आक्षेपों के संबंध में प्रत्यर्थी की ओर से भी एक उत्तर फाइल किया गया था । इसके पश्चात्, रिटर्निंग आफिसर ने तारीख 3 जुलाई, 2012 को नामनिर्देशन पत्रों की संवीक्षा के समय इस मामले पर विचार किया था जब कि अर्जीदार के प्रतिनिधि ने प्रत्यर्थी द्वारा संस्थान की परिषद् के प्रधान को प्रस्तुत किए गए त्यागपत्र की वास्तविकता को भी प्रश्नगत किया था । रिटर्निंग आफिसर ने पक्षकारों की ओर से किए गए निवेदनों पर विचार करने के पश्चात् तारीख 3 जुलाई, 2012 के अपने आदेश द्वारा अर्जीदार के आक्षेपों तथा श्री चरण लाल साहू

द्वारा किए गए आक्षेपों को भी नामंजूर कर दिया और प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन पत्र को स्वीकार कर लिया । तदनुसार, तारीख 3 जुलाई, 2012 को केवल अर्जीदार और प्रत्यर्थी को राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए सम्यक् रूप से नामनिर्देशित दो अभ्यर्थियों के रूप में घोषित किया गया था । राष्ट्रपतीय निर्वाचनों के लिए प्रत्यर्थी की अभ्यर्थिता के संबंध में अर्जीदार के आक्षेप के नामंजूर किए जाने के ठीक पश्चात् तारीख 9 जुलाई, 2012 को भारत के निर्वाचन आयोग को संविधान के अनुच्छेद 324 के अधीन एक अर्जी प्रस्तुत की गई थी जिसमें रिटर्निंग आफिसर से यह प्रार्थना की गई कि प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन पत्रों की पुनः संवीक्षा करने का निदेश दिया जाए और अर्जीदार की सुनवाई करने के पश्चात् मामले पर नए सिरे से विनिश्चय किया जाए । निर्वाचन आयोग ने उक्त अर्जी यह मानते हुए नामंजूर कर दी कि वह निर्वाचन आयोग के समक्ष फाइल नहीं की जा सकती है क्योंकि राष्ट्रपतीय निर्वाचनों से संबंधित सभी विवादों की जांच और उनके संबंध में विनिश्चय केवल इस न्यायालय द्वारा किया जा सकता है । इसके पश्चात्, राष्ट्रपतीय निर्वाचन तारीख 19 जुलाई, 2012 को कराए गए और प्रत्यर्थी को तारीख 22 जुलाई, 2012 को भारत के राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित घोषित किया गया था । अर्जीदार ने, प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन पत्रों को विधिमान्य नामनिर्देशन पत्रों के रूप में स्वीकार करने वाले रिटर्निंग आफिसर के विनिश्चय से व्यथित होकर भारत के राष्ट्रपति के रूप में प्रत्यर्थी के निर्वाचन को उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 और विशेषकर उसके नियम 13 के साथ पठित संविधान के अनुच्छेद 71 के अधीन प्रश्नगत किया है । अर्जीदार की ओर से यह दलील दी कि भारत के राष्ट्रपति के रूप में प्रत्यर्थी का निर्वाचन मुख्य रूप से इस आधार पर शून्य घोषित किए जाने योग्य है कि नामनिर्देशन पत्रों की संवीक्षा की तारीख को भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष का पद धारण करने के कारण प्रत्यर्थी लाभ का पद धारण किए हुए था जिसके कारण वह राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने के लिए निरर्हित हो गया था । अर्जीदार की ओर से यह दलील दी गई कि प्रत्यर्थी उपर्युक्त संस्थान के अध्यक्ष का पद धारण करने के अलावा लोक सभा में सदन का नेता भी था जिसे एक लाभ का पद घोषित किया गया था । यह दलील दी गई कि चूंकि प्रत्यर्थी नामनिर्देशन पत्र फाइल करने की तारीख को उपर्युक्त दोनों पद धारण किए हुए था, जो कि लाभ के पद हैं, इसलिए प्रत्यर्थी संविधान के अनुच्छेद 58(2) के आधार पर राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने से निरर्हित हो गया था । अर्जीदार की ओर से आगे यह दलील दी

गई कि संविधान के अनुच्छेद 71 में यह उपबंध है कि राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संसक्त सभी शंकाओं और विवादों की जांच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा और उसका विनिश्चय अंतिम होगा। यह दलील दी गई कि प्रत्यर्थी के इस प्राख्यान में बहुत शंकाएं थी कि उसने अपने नामनिर्देशन पत्र फाइल करने की तारीख को भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष पद तथा लोक सभा में सदन के नेता के रूप में अपने पद, दोनों, से तारीख 20 जून, 2012 को त्यागपत्र दे दिया था। इस बात पर जोर दिया गया कि जो शंका उठाई गई थी उसका निवारण पूर्णरूपेण जांच करके ही किया जा सकता था जिसमें साक्ष्य लेना और उन साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करना अपेक्षित है, जिनकी परीक्षा प्रत्यर्थी करना चाहता है। तदुनसार, यह दलील दी गई कि वर्तमान अर्जी का विचारण उसी रीति में किया जाना होगा जैसे किसी ऐसे वाद का विचारण किया जाता है, जिसे सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 141 के उपबंध लागू होते हैं। उच्चतम न्यायालय द्वारा परस्पर-विरोधी दलीलों पर विचार करने के पश्चात् निर्वाचन अर्जी खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – संविधान में उस रीति के संबंध में उपबंध किया गया है जिसमें राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन को प्रश्नगत किया जा सकता है। अनुच्छेद 71 में राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित या संसक्त विषयों के लिए उपबंध किया गया है। अनुच्छेद 71 के खंड (1) में यह उपबंध किया गया है कि राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संसक्त सभी शंकाओं और विवादों की जांच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा और उसका विनिश्चय अंतिम होगा। उपखंड (3) में यह उपबंध है कि संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित या संसक्त किसी विषय का विनियमन संसद् विधि द्वारा कर सकेगी। इसके अलावा, राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम वर्ष 1952 में भारत के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पद पर निर्वाचन से संबंधित या संसक्त कतिपय विषयों का विनियमन करने के उद्देश्य से अधिनियमित किया गया था। जैसा कि श्री साल्वे ने उपदर्शित किया है, 1952 के अधिनियम की धारा 14 और धारा 14क में उसके अधीन निर्वाचन अर्जियों का उसमें उपदर्शित रीति में विचारण करने की अधिकारिता विशेष रूप से उच्चतम न्यायालय में निहित की गई है। वास्तव में, उक्त अधिनियम का भाग 3 भारत के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों के निर्वाचनों से संबंधित विवादों के संबंध में है जिसमें

धारा 14 और धारा 14क तथा धारा 17 और धारा 18 हैं, जिनमें उच्चतम न्यायालय को या तो निर्वाचन को खारिज करने या निर्वाचित अभ्यर्थी के निर्वाचन को शून्य घोषित करने की या निर्वाचित अभ्यर्थी के निर्वाचन को शून्य घोषित करने और अर्जीदार या किसी अन्य अभ्यर्थी को सम्यक् रूप से निर्वाचित घोषित करने की शक्ति दी गई है। (पैरा 47)

उच्चतम न्यायालय ने, अधिनियम की धारा 14 की उपधारा (3) को ध्यान में रखते हुए संविधान के अनुच्छेद 145 के अधीन नियम विरचित किए हैं जो कि उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 में अंतर्विष्ट हैं। आदेश 39 के नियम 13 में यह उपबंध किया गया है कि भारत के राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचन को चुनौती देने से संबंधित कोई अर्जी पेश किए जाने पर उसे प्रारंभिक सुनवाई करने और इस बात पर विचार करने के लिए न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ के समक्ष रखा जाएगा कि अर्जी आदेश 39 के नियम 20 में यथा-अनुध्यात नियमित सुनवाई किए जाने योग्य है अथवा नहीं और उस संदर्भ में ऐसी न्यायपीठ या तो अर्जी को खारिज कर सकती है या कोई ऐसा समुचित आदेश पारित कर सकती है, जो वह उपयुक्त समझे। उपर्युक्त स्कीम के अधीन ही अर्जीदार द्वारा प्रत्यर्थी के भारत के राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन को चुनौती देते हुए फाइल की गई प्रस्तुत निर्वाचन अर्जी पर इस प्रश्न के संबंध में प्रारंभिक सुनवाई की गई है कि क्या वह नियमित सुनवाई किए जाने योग्य है अथवा नहीं। (पैरा 48 और 49)

यह चुनौती मुख्य रूप से इस अभिकथन पर आधारित है कि नामनिर्देशन फाइल करने की तारीख को प्रत्यर्थी “लाभ का पद” अर्थात् :-
 (i) भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष; और (ii) लोक सभा में सदन के नेता, का पद धारण किए हुए थे। अर्जीदार की ओर से उपर्युक्त चुनौतियों के संबंध में इस बात पर जोर दिया गया था कि उक्त दो विवाद्यकों के बारे में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए यह आवश्यक था कि अर्जीदार द्वारा किए गए अभिकथनों की सच्चाई का पता लगाने के लिए निर्वाचन अर्जी की बाबत नियमित सुनवाई की जाए। यह भी निवेदन किया गया था कि इसकी सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 141 के अधीन यथा-अनुध्यात रीति में पूर्णरूपेण सुनवाई की जानी आवश्यक है, जैसा कि उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के भाग 3 में अंतर्विष्ट उच्चतम न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता से संबंधित उपबंधों के साथ पठित आदेश 39 से स्पष्ट होता है। दूसरी ओर, प्रत्यर्थी की ओर से इस बात पर

जोर दिया गया है कि नामनिर्देशन फाइल करने की तारीख को प्रत्यर्थी न तो उपर्युक्त संस्थान के अध्यक्ष का पद धारण किए हुए थे और न ही वे लोक सभा में सदन के नेता थे, क्योंकि उन्होंने दोनों पदों से अपना त्यागपत्र तारीख 20 जून, 2012 को दे दिया था। (पैरा 50 और 51)

इस संबंध में कुछ शंका है कि भारतीय सांख्यिकी संस्थान के अध्यक्ष का पद लाभ का पद है अथवा नहीं हालांकि उसे 2006 में यथा-संशोधित संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 के उपबंधों द्वारा संविधान के अनुच्छेद 102 की परिधि से अपवर्जित कर दिया गया है। इसे उन पदों की सारणी में सम्मिलित किए जाने पर, जिन्हें संसद् की सदस्यता से निरर्हित होने से व्यावृत्त किया गया है, लाभ के पद के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। तथापि, पद को लाभ के पद के रूप में प्रवर्गीकृत करने से वह वास्तव में ऐसा पद नहीं बन जाता क्योंकि इससे कोई लाभ प्राप्त नहीं होता था और वह पूर्णतः अवैतनिक प्रकृति का था। उक्त पद के धारक के साथ न तो कोई वेतन, न ही कोई मानदेय या कोई अन्य फायदा जुड़ा हुआ था। यह ऐसा पद नहीं था जिससे वास्तुतः कोई ऐसा लाभ प्राप्त किया जा सकता था जो उसे वास्तव में लाभ का पद बना सकता था। वर्तमान मामले में, संस्थान के अध्यक्ष के पद से इसमें इसके ऊपर उपदर्शित कोई भी सुख-सुविधा प्रदान नहीं की जाती थी और वास्तव में उक्त पद द्वारा कोई लाभ या धनीय अभिलाभ प्राप्त भी नहीं किया जा सकता था। पक्षकारों की ओर से अपनी-अपनी दलीलों के समर्थन में उद्धृत विभिन्न विनिश्चयों से स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित होता है कि लाभ का पद होने के लिए उस पद के साथ विभिन्न धनीय फायदे अवश्य जुड़े होने चाहिए या वह पद धनीय फायदे पहुंचाने में समर्थ होना चाहिए जैसे शासकीय वास-सुविधा या चालक सहित कार उपलब्ध कराना, जो कि भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष के पद की बाबत नहीं है। (पैरा 52, 55 और 58)

संविधान के अनुच्छेद 58 के खंड (2) के स्पष्टीकरण में यथा-उल्लिखित सांविधानिक स्कीम से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि उक्त अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिए कोई व्यक्ति अन्य बातों के साथ-साथ केवल इस कारण कोई लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का या किसी राज्य का मंत्री है। संविधान के अनुच्छेद 102 में समरूप उपबंध अंतर्विष्ट हैं जिसके खंड (1) के स्पष्टीकरण में इसी प्रकार उपदर्शित किया गया है कि उक्त खंड के प्रयोजनों के लिए, कोई व्यक्ति केवल इस कारण भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन

लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का या ऐसे राज्य का मंत्री है। इस तर्क में कि संविधान के अनुच्छेद 102 तथा अनुच्छेद 58 के उपर्युक्त उपबंध राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित किसी व्यक्ति को तब निरर्हित होने से व्यावृत्त नहीं कर सकते यदि वह लाभ का पद धारण करता है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कोई बल नहीं है कि, जैसा कि अभिलेख पर विद्यमान सामग्री से प्रकट होता है, प्रत्यर्थी राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए अपने नामनिर्देशन पत्र फाइल करने के समय सरकार के अधीन या अन्यथा कोई लाभ का पद धारण नहीं किए हुए था। (पैरा 57)

सदन के नेता के पद के संबंध में यह पूर्णतः स्पष्ट है कि प्रत्यर्थी ने राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए अपने नामनिर्देशन पत्र फाइल करने से पहले अपना त्यागपत्र दे दिया था। इस संविवाद का अंत कि प्रत्यर्थी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और उसकी केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति की सदस्यता से अभिकथित रूप से तारीख 25 जून, 2012 को त्यागपत्र दिया था, श्री प्रदीप गुप्ता द्वारा, जो कि भारत के राष्ट्रपति के निजी सचिव हैं, फाइल किए गए शपथपत्र द्वारा कर दिया गया था। श्री गुप्ता ने उक्त शपथपत्र में यह उपदर्शित किया है कि उसने केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति द्वारा प्रत्यर्थी को राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए उसका नामनिर्देशन स्वीकार किए जाने पर उसे विदाई देने के लिए आयोजित की गई बैठक की तारीख अनवधानतावश 25 जून, 2012 दी थी। तथापि, सदन के नेता का पद धारण करने के कारण अनुध्यात निरर्हता, सदन में दल के नेता की हैसियत होने के अलावा, जो कि सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करना नहीं है, संविधान के अनुच्छेद 102(1)(क) के उपबंधों के संबंध में थी। बहरहाल, चूंकि प्रत्यर्थी ने अपने नामनिर्देशन पत्र फाइल करने के पूर्व उक्त पद से त्यागपत्र दे दिया था, जिस पर सदन के अध्यक्ष द्वारा सम्यक् रूप से कार्यवाही कर दी गई थी, इसलिए अर्जीदार द्वारा भारत के राष्ट्रपति के रूप में प्रत्यर्थी के निर्वाचन को उक्त आधार पर दी गई चुनौती की सुसंगतता समाप्त हो गई है। तथापि, 2006 में यथा-संशोधित संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 के उपबंधों द्वारा संस्थान के अध्यक्ष के पद को संसद् का सदस्य बनने संबंधी निरर्हता से अपवर्जित कर दिया गया था। (पैरा 56)

इस प्रक्रम पर यह उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा कि उच्चतम न्यायालय ने बार-बार यह चेतावनी दी है कि किसी ऐसे अभ्यर्थी के

निर्वाचन में, जो निर्वाचन में विजयी हुआ है, जब तक कि परिस्थितियां ऐसी अपेक्षा न करें, सामान्यतया हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। अतः, यह न्यायालय निर्वाचन अर्जी को नियमित सुनवाई के लिए रखने के लिए तैयार नहीं है और उसे उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 के नियम 13 के अधीन खारिज किया जाता है। (पैरा 61 और 62)

प्रारंभिक सुनवाई का उपबंध किए जाने के संबंध में उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 में नए नियम 13 का अंतःस्थापन, आदेश 23 के नियम 6 के उपबंधों की विद्यमानता और आदेश 23 के नियम 6 में उल्लिखित दोनों आधारों पर किसी वाद को नामंजूर करने और वाद (जिसके अंतर्गत निर्वाचन अर्जी भी है) को खारिज करने की शक्ति की उपलब्धता के होते हुए भी किया गया था। अतः आदेश 39, नियम 13 के अधीन प्रारंभिक सुनवाई में न्यायालय से किसी विशिष्ट कानूनी अधिनियमिति को ध्यान में रखते हुए निर्वाचन अर्जी में किए अभिवचनों या उसकी संधार्यता के प्रश्न पर केवल वाद हेतुक के प्रकटन या अप्रकटन के तथ्य पर विचार करने के अतिरिक्त कुछ और बातों पर भी विचार करने की अपेक्षा होगी। ऐसी अतिरिक्त जांच, जिसमें स्पष्ट रूप से ऐसे विषयों को अपवर्जित किया जाना चाहिए, जो नियम 20 के अधीन नियमित सुनवाई के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं, की अपेक्षा आदेश 39 के नियम 13 के अधीन प्रारंभिक सुनवाई में की जाएगी। ऐसी जांच के दौरान न्यायालय को अपना यह समाधान कर लेना चाहिए कि यद्यपि निर्वाचन अर्जी में ऐसे किसी स्पष्ट वादहेतुक का प्रकटन किया गया है और विचारणीय विवादक(कों) को उठाया गया है, तथापि, उठाए गए विवादकों का विचारण वहां तक आवश्यक या न्यायोचित नहीं होगा, जहां तक यदि उन संपूर्ण तथ्यों पर, जिनका अर्जीदार ने अवलंब लिया है, साबित मान लिया जाए, तो भी निर्वाचन के परिणाम में कोई हस्तक्षेप करने की गुंजाइश नहीं होगी। (पैरा 78)

संसद् में मान्यताप्राप्त दलों तथा समूहों के नेता तथा मुख्य सचेतक (प्रसुविधाएं) अधिनियम, 1998 और उसके अधीन विरचित नियमों के उपबंधों के अधीन सदन के नेता या सदन में विधायिका दल के नेता के लिए, यदि वह संघ का कोई मंत्री है (वर्तमान मामले में प्रत्यर्थी संघ मंत्रिमंडल का सदस्य था) तो ऐसे किसी पद के धारक को संदेय सम्बलम् और परिलब्धियों के अतिरिक्त, कोई पारिश्रमिक अनुध्यात नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त, इन दोनों पदों में से कोई भी पद अनुच्छेद 58(2) के अधीन यथापेक्षित भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन

अथवा किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन नहीं है जिससे किसी ऐसे पद के धारक के प्रति उसके अधीन अनुध्यात निरर्हता उपगत हो सके। प्रश्नगत दोनों ही पद लोक सभा से संबंधित पद हैं। उसका कोई पदधारी, यथास्थिति, या तो निर्वाचित हुआ होना चाहिए या सदन में उसकी सदस्यता या मंत्रिमंडल के सदस्य के रूप में उसकी स्थिति के आधार पर नामनिर्दिष्ट किया गया होना चाहिए। अतः, जहां तक पूर्वोक्त पदों का संबंध है, निर्वाचन अर्जी में, नियमों के आदेश 39 के नियम 20 के अधीन विस्तृत सुनवाई के लिए किसी विचारणीय विवाद्यक को प्रकट नहीं किया है। (पैरा 79)

जहां तक अनुच्छेद 102(1)(क) का संबंध है, यद्यपि लाभ का पद धारण करना संसद् के प्रत्येक सदन के सदस्य के रूप में निर्वाचन के लिए या उसका सदस्य होने के लिए निरर्हता है तो भी ऐसी किसी निरर्हता का संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा अभिलोपन किया जा सकता है। अनुच्छेद 58(2) के अधीन, यद्यपि ऐसी निरर्हता (लाभ का कोई पद धारण करने के आधार पर) किसी राष्ट्रपतीय अभ्यर्थी के प्रति उपगत होती है तो भी ऐसी किसी निरर्हता को दूर करने हेतु संसद् को कोई शक्ति प्रदत्त नहीं की गई है। इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 58 और अनुच्छेद 102, दोनों के स्पष्टीकरणों में ऐसे उपबंध अंतर्विष्ट हैं, जिनके आधार पर कतिपय पदों को लाभ का पद नहीं समझा जाएगा। संविधान के दोनों उपबंधों के बीच समानताएं और अंतर इतने सुस्पष्ट हैं कि उनकी अनदेखी या उपेक्षा नहीं की जा सकती है। ऐसी किसी स्थिति में, जहां अनुच्छेद 102(1)(क) संसद् को, लाभ का कोई पद धारण करने के आधार पर संसद् का सदस्य होने के लिए उपगत निरर्हता को दूर करने हेतु कोई विधि अधिनियमित करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से सशक्त करता है, वहीं अनुच्छेद 58 में ऐसे किसी उपबंध के अभाव में किसी समेकित सांविधानिक स्कीम को समझने के लिए अनुच्छेद 58 का अनुच्छेद 102 के साथ परिशीलन संभव नहीं होगा। इस मत को ध्यान में रखते हुए कि संविधान की भाषा को उसके साधारण और सहज अभिप्राय के अनुसार पढ़ा जाना चाहिए, जिससे उसका उस रूप में अर्थान्वयन किया जा सके जिससे उसका सही विधायी आशय निकलता हो, अनुच्छेद 58 को अनुच्छेद 84 और अनुच्छेद 102 से स्वतंत्र रूप से पढ़ा जाना चाहिए और दोनों सांविधानिक उपबंधों के उद्देश्य को एक दूसरे से पृथक् रूप से समझना होगा। (पैरा 83)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2009]	(2009) 9 एस. सी. सी. 648 : कंज्यूमर एजुकेशन एंड रिसर्च सोसायटी बनाम भारत संघ और अन्य ;	37,45
[2006]	(2006) 5 एस. सी. सी. 266 : जया बच्चन बनाम भारत संघ और अन्य ;	17,27,54
[2002]	(2002) 2 एस. सी. सी. 704 : एम. वी. राजशेखरन और अन्य बनाम वटल नागराज और अन्य ;	18,44,140,144
[2001]	(2001) 7 एस. सी. सी. 425 : शिवू सोरेन बनाम दयानन्द सहाय और अन्य ;	16,27,28,53,150
[2001]	(2001) 2 एस. सी. सी. 19 : प्रद्युत बोरदोलोई बनाम स्वप्न राय ;	40
[1993]	(1993) 2 एस. सी. सी. 725 : मोती राम बनाम परम देव ;	31
[1987]	(1987) सप्ली. एस. सी. सी. 692 : मिथिलेश कुमार बनाम आर. वेंकटरमण और अन्य ;	24
[1985]	(1985) 1 एस. सी. सी. 151 : अशोक कुमार भट्टाचार्य बनाम अजय विश्वास और अन्य ;	41
[1983]	(1983) 4 एस. सी. सी. 582 : बी. एस. मिन्हास बनाम भारतीय सांख्यिकी संस्थान और अन्य ;	134
[1983]	(1983) 4 एस. सी. सी. 36 : मांगे राम बनाम ब्रज मोहन और अन्य ;	28
[1978]	(1978) 2 एस. सी. सी. 500 : चरन लाल साहू बनाम नीलम संजीवा रेड्डी ;	22

[1978]	(1978) 2 एस. सी. सी. 301 : भारत संघ और अन्य बनाम गोपाल चन्द्र मिश्रा और अन्य ;	30
[1977]	(1977) 1 एस. सी. सी. 70 : मधुकर जी. ई. पंकाकर बनाम जसवंत छबीलदास रजनी ;	29
[1975]	(1975) सप्ली. एस. सी. सी. 1 : इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राज नारायण ;	38
[1975]	(1975) 1 एस. सी. सी. 252 : कारभारी भीमाजी रोहमारे बनाम शंकर राव गेनुजी कोल्हे और अन्य ;	39
[1971]	(1971) 3 एस. सी. सी. 870 : शिवमूर्ति स्वामी इनामदार बनाम अगादी संगन्ना आन्दनप्पा ;	149
[1969]	(1969) 3 एस. सी. सी. 268 : कांता कथूरिया बनाम मानक चन्द सुराना ;	38
[1968]	[1968] 2 एस. सी. आर. 133 = ए. आई. आर. 1968 एस. सी. 904 : बाबूराव पटेल और अन्य बनाम डॉ. जाकिर हुसैन और अन्य ;	83, 129
[1954]	ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 653 : रावन्ना सुबन्ना बनाम जी. एस. कगीरप्पा ।	28, 29, 149

आरंभिक (सिविल) अधिकारिता : 2012 की निर्वाचन अर्जी सं. 1.

भारत के संविधान, 1950 के अनुच्छेद 71 के अधीन निर्वाचन अर्जी ।

उपस्थित होने वाले
पक्षकारों की ओर से

सर्वश्री गुलाम ई. वाहनवती, महान्यायवादी,
राम जेठमलानी, सत्य पाल जैन, हरीश
एन. साल्वे, प्रवीन एच. पारेख, ज्येष्ठ
अधिवक्ता, एस. एस. शमशेरी, धीरज जैन,
पी. वी. योगेश्वरन्, (श्रीमती) लता
कृष्णमूर्ति, (सुश्री) पी. आर. माला,

सुभाषिणी आर. सोरेन, प्रणव दीश, करन कालिया, आशीष दीक्षित, वी. एम. विष्णु, भारत सूद, भक्ती वर्धन सिंह, देवदत्त कामत, रोहित शर्मा, अनुपम एन. प्रसाद, निज़ाम पाशा, आनन्द कानन, समीर पारेख, ई. आर. कुमार, (सुश्री) सोनाली बसु पारेख, रजत नायर, विशाल प्रसाद, उत्सव त्रिवेदी, अभिषेक विनोद देशमुख (मैसर्स पारेख एंड कंपनी की ओर से) और (सुश्री) मीनाक्षी अरोड़ा

न्यायालय का निर्णय मुख्य न्यायमूर्ति अल्तमस कबीर ने दिया ।

मु. न्या. कबीर – प्रस्तुत मामले में अर्जीदार तारीख 19 जुलाई, 2012 को हुए राष्ट्रपतीय निर्वाचनों में एक अभ्यर्थी था, जिसका परिणाम तारीख 22 जुलाई, 2012 को घोषित किया गया था । अर्जीदार और प्रत्यर्थी केवल दो ही सम्यक् रूप से नामनिर्दिष्ट अभ्यर्थी थे । प्रत्यर्थी ने जो मत प्राप्त किए थे उनका मूल्य 7,13,763 था और उसे भारत के राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित घोषित किया गया था । दूसरी ओर, अर्जीदार ने जो मत प्राप्त किए थे उनका मूल्य 3,15,987 था ।

2. अर्जीदार ने भारत के राष्ट्रपति के रूप में प्रत्यर्थी के निर्वाचन को इस आधार पर चुनौती दी है कि वह भारत के संविधान के अनुच्छेद 58 के उपबंधों के आधार पर राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने के लिए पात्र नहीं था, जिसे इसमें इसके नीचे उद्धृत किया जाता है :-

“58. राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए अर्हताएं – (1) कोई व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र तभी होगा जब वह –

- (क) भारत का नागरिक है,
- (ख) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका है, और
- (ग) लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित है ।

(2) कोई व्यक्ति, जो भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है, राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र नहीं होगा ।

स्पष्टीकरण – इस अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिए, कोई व्यक्ति केवल इस कारण कोई लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति या किसी राज्य का राज्यपाल है अथवा संघ का या किसी राज्य का मंत्री है।”

3. अर्जीदार के अनुसार, प्रत्यर्थी राष्ट्रपतीय निर्वाचनों के लिए अभ्यर्थी के रूप में नामनिर्देशन पत्र फाइल करने के समय भारतीय सांख्यिकी संस्थान परिषद्, कलकत्ता (जिसे इसमें इसके पश्चात् “संस्थान” कहा गया है) के अध्यक्ष का पद धारण किए हुए था, जो कि उसके अनुसार एक लाभ का पद था। ऐसा प्रतीत होता है कि तारीख 2 जुलाई, 2012 को नामनिर्देशन पत्रों की संवीक्षा के समय अर्जीदार के प्राधिकृत प्रतिनिधि द्वारा, जिसने यह दलील दी थी कि प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन पत्र खारिज किए जाने योग्य हैं, रिटर्निंग आफिसर के समक्ष इस आशय का एक आक्षेप उठाया गया था। उक्त दलील के उत्तर में, प्रत्यर्थी के प्रतिनिधि ने अर्जीदार द्वारा किए गए आक्षेपों का उत्तर फाइल करने के लिए दो दिन के समय की ईप्सा की थी। इसके पश्चात्, अर्जीदार द्वारा किए गए आक्षेपों के संबंध में तारीख 3 जुलाई, 2012 को प्रत्यर्थी की ओर से रिटर्निंग आफिसर के समक्ष एक लिखित उत्तर फाइल किया गया था, जिसके साथ तारीख 20 जून, 2012 के त्यागपत्र की प्रति भी संलग्न की गई थी जिसके द्वारा प्रत्यर्थी ने यह दावा किया था कि उसने संस्थान के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया है। श्री चरण लाल साहू द्वारा किए गए आक्षेपों के संबंध में प्रत्यर्थी की ओर से भी एक उत्तर फाइल किया गया था। इसके पश्चात्, रिटर्निंग आफिसर ने तारीख 3 जुलाई, 2012 को नामनिर्देशन पत्रों की संवीक्षा के समय इस मामले पर विचार किया था जब कि अर्जीदार के प्रतिनिधि ने प्रत्यर्थी द्वारा संस्थान की परिषद् के प्रधान प्रोफेसर एम. जी. के. मेनन को प्रस्तुत किए गए त्यागपत्र की वास्तविकता को भी प्रश्नगत किया था।

4. रिटर्निंग आफिसर ने पक्षकारों की ओर से किए गए निवेदनों पर विचार करने के पश्चात् तारीख 3 जुलाई, 2012 के अपने आदेश द्वारा अर्जीदार के आक्षेपों तथा श्री चरण लाल साहू द्वारा किए गए आक्षेपों को भी नामंजूर कर दिया और प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन पत्र को स्वीकार कर लिया। तदनुसार, तारीख 3 जुलाई, 2012 को केवल अर्जीदार और प्रत्यर्थी को राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए सम्यक् रूप से नामनिर्देशित दो अभ्यर्थियों के रूप में घोषित किया गया था।

5. राष्ट्रपतीय निर्वाचनों के लिए प्रत्यर्थी की अभ्यर्थिता के संबंध में

अर्जीदार के आक्षेप के नामंजूर किए जाने के ठीक पश्चात् तारीख 9 जुलाई, 2012 को भारत के निर्वाचन आयोग को संविधान के अनुच्छेद 324 के अधीन एक अर्जी प्रस्तुत की गई थी जिसमें रिटर्निंग आफिसर से यह प्रार्थना की गई कि प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन पत्रों की पुनः संवीक्षा करने का निदेश दिया जाए और अर्जीदार की सुनवाई करने के पश्चात् मामले पर नए सिरे से विनिश्चय किया जाए। निर्वाचन आयोग ने उक्त अर्जी यह मानते हुए नामंजूर कर दी कि वह निर्वाचन आयोग के समक्ष फाइल नहीं की जा सकती है क्योंकि राष्ट्रपतीय निर्वाचनों से संबंधित सभी विवादों की जांच और उनके संबंध में विनिश्चय केवल इस न्यायालय द्वारा किया जा सकता है। इसके पश्चात्, जैसा कि इसमें इसके ऊपर उपदर्शित किया गया है, राष्ट्रपतीय निर्वाचन तारीख 19 जुलाई, 2012 को कराए गए और प्रत्यर्थी को तारीख 22 जुलाई, 2012 को भारत के राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित घोषित किया गया था।

6. अर्जीदार ने, प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन पत्रों को विधिमान्य नामनिर्देशन पत्रों के रूप में स्वीकार करने वाले रिटर्निंग आफिसर के विनिश्चय से व्यथित होकर भारत के राष्ट्रपति के रूप में प्रत्यर्थी के निर्वाचन को उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 और विशेषकर उसके नियम 13 के साथ पठित संविधान के अनुच्छेद 71 के अधीन प्रश्नगत किया है। उक्त नियम, जो कि इस अर्जी का विनिश्चय करने के लिए सुसंगत है, निम्नलिखित रूप में है :-

* “13. कोई अर्जी पेश किए जाने पर उसे प्रारंभिक सुनवाई के लिए और अर्जी की तामील संबंधी आदेशों के लिए और उसके ऐसे विज्ञापन के लिए, जो न्यायालय उचित समझे तथा अर्जी की सुनवाई के लिए समय नियत करने के लिए न्यायालय के पांच न्यायाधीशों से मिलकर बनी एक न्यायपीठ के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा। प्रारंभिक

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :-

“13. hearing and orders for service of the petition and advertisement thereof as the Court may think proper and also appoint a time for hearing of the petition. Upon preliminary hearing, the Court, if satisfied, that the petition does not deserve regular hearing as contemplated in Rule 20 of this

सुनवाई किए जाने पर, यदि न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि वह अर्जी इस आदेश के नियम 20 में यथा-अनुध्यात नियमित सुनवाई किए जाने योग्य नहीं है तो वह उस अर्जी को खारिज कर सकेगा या ऐसा कोई समुचित आदेश पारित कर सकेगा, जो वह ठीक समझे ।” (जोर देने के लिए रेखांकित)

7. उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 के नियम 13 के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए, जो कि राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 के भाग 3 के अधीन निर्वाचन अर्जियों के संबंध में है, अर्जीदार द्वारा फाइल की गई निर्वाचन अर्जी इस प्रारंभिक प्रश्न पर सुनवाई के लिए सूचीबद्ध की गई थी कि वह अर्जी आदेश 39 के नियम 20 द्वारा यथा-अनुध्यात किसी सुनवाई के योग्य है अथवा नहीं । नियम 20 में यह उपबंधित है कि :-

*“20. किसी निर्वाचन को प्रश्नगत करने वाली प्रत्येक अर्जी न्यायालय के कम से कम पांच न्यायाधीशों की एक न्यायपीठ के समक्ष प्रस्तुत की जाएगी और उसके द्वारा उसकी सुनवाई और उसका निपटारा किया जाएगा ।”

8. अर्जीदार की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री राम जेठमलानी ने यह दलील दी कि भारत के राष्ट्रपति के रूप में प्रत्यर्थी का निर्वाचन मुख्य रूप से इस आधार पर शून्य घोषित किए जाने योग्य है कि नामनिर्देशन पत्रों की संवीक्षा की तारीख को भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष का पद धारण करने के कारण प्रत्यर्थी लाभ का पद धारण किए हुए था जिसके कारण वह राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने के लिए निरर्हित हो गया था ।

9. श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि प्रत्यर्थी उपर्युक्त संस्थान के

Order may dismiss the petition or pass any appropriate order as the Court may deem fit.” (Emphasis supplied)

*“20. Every petition calling in question an election shall be posted before and be heard and disposed of by a Bench of the Court consisting of not less than five Judges.”

अध्यक्ष का पद धारण करने के अलावा लोक सभा में सदन का नेता भी था जिसे एक लाभ का पद घोषित किया गया था । श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि चूंकि प्रत्यर्थी नामनिर्देशन पत्र फाइल करने की तारीख को उपर्युक्त दोनों पद धारण किए हुए था, जो कि लाभ के पद हैं, इसलिए प्रत्यर्थी संविधान के अनुच्छेद 58(2) के आधार पर राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने से निरर्हित हो गया था ।

10. श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि संविधान के अनुच्छेद 71 में यह उपबंध है कि राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संसक्त सभी शंकाओं और विवादों की जांच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा और उसका विनिश्चय अंतिम होगा । श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि प्रत्यर्थी के इस प्राख्यान में बहुत शंकाएं थी कि उसने अपने नामनिर्देशन पत्र फाइल करने की तारीख को भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष पद तथा लोक सभा में सदन के नेता के रूप में अपने पद, दोनों, से तारीख 20 जून, 2012 को त्यागपत्र दे दिया था । श्री जेठमलानी ने इस बात पर जोर दिया कि जो शंका उठाई गई थी उसका निवारण पूर्णरूपेण जांच करके ही किया जा सकता था जिसमें साक्ष्य लेना और उन साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करना अपेक्षित है, जिनकी परीक्षा प्रत्यर्थी करना चाहता है । तदनुसार, श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि वर्तमान अर्जी का विचारण उसी रीति में किया जाना होगा जैसे किसी ऐसे वाद का विचारण किया जाता है, जिसे सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 141 के उपबंध लागू होते हैं, जो कि निम्नलिखित रूप में है :-

“141. **प्रकीर्ण कार्यवाहियां** – उस प्रक्रिया का, जो वादों के विषय में इस संहिता में उपबंधित है, सिविल अधिकारिता वाले किसी भी न्यायालय में की सभी कार्यवाहियों में वहां तक अनुसरण किया जाएगा जहां तक वह लागू की जा सके ।

स्पष्टीकरण – इस धारा में “कार्यवाही” शब्द के अंतर्गत आदेश 9 के अधीन कार्यवाही है, किन्तु इसके अंतर्गत संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन कार्यवाही नहीं है ।”

इसके अलावा, विद्वान् काउन्सेल ने उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 के नियम 34 के प्रति भी निर्देश किया, जिसमें निम्न प्रकार उपबंधित है :-

* “आदेश 39, नियम 34 – इस आदेश या न्यायालय के किसी विशेष आदेश के उपबंधों या निदेशों के अधीन रहते हुए किसी निर्वाचन अर्जी में की प्रक्रिया में यथासंभव निकटतम रूप में न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता के प्रयोग में उसके समक्ष की कार्यवाहियों में की प्रक्रिया का अनुसरण किया जाएगा।”

11. श्री जेठमलानी ने यह इंगित किया कि उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 22 में उपबंधित उच्चतम न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता में कोई वाद संस्थित करने और उसके विचारण के लिए संपूर्ण प्रक्रिया उपवर्णित की गई है, जिसमें सिविल प्रक्रिया संहिता द्वारा शासित किसी वाद की बाबत सभी भिन्न-भिन्न प्रक्रमों के लिए उपबंध किया गया है। श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि निर्वाचन अर्जियों के विचारण की प्रक्रिया को उच्चतम न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता के समरूप बनाना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि मामले का विचारण एक वाद के रूप में किया जाना चाहिए यदि आदेश 39 के नियम 13 के अधीन पांच न्यायाधीशों वाले न्यायालय का प्रारंभिक जांच के समय यह समाधान हो गया था कि मामला उक्त आदेश के नियम 20 में यथा-अनुध्यात नियमित सुनवाई किए जाने योग्य है।

12. श्री जेठमलानी ने तुलना की दृष्टि से लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 87 के प्रति निर्देश किया, जिसमें निर्वाचन अर्जियों के विचारण के लिए प्रक्रिया अधिकथित की गई है और उसमें यह उपबंध किया गया है कि हर निर्वाचन अर्जी उच्च न्यायालय द्वारा यथाशक्य निकटतम उस प्रक्रिया के अनुसार विचारित की जाएगी जो सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन वादों के विचारण को लागू है। श्री जेठमलानी ने इस बात पर जोर दिया कि निर्वाचन विवादों से संबंधित मामलों में विधायिका का आशय यह था कि उनका विचारण सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

“**Order XXXIX, Rule 34** – Subject to the provisions of this Order or any special order or direction of the Court, the procedure of an Election Petition shall follow as nearly as may be the procedure in proceedings before the Court in exercise of its Original Jurisdiction.”

141 में प्रतिपादित प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए नियमित वादों के रूप में किया जाए ।

13. इसके पश्चात्, श्री जेठमलानी ने हमारा ध्यान संविधान के अनुच्छेद 102 और विशेषकर उसके खंड 1(1)(क) के प्रति आकृष्ट किया, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ, निम्न प्रकार उपबंध किया गया है :-

“102. (1) कोई व्यक्ति संसद् के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के लिए और सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा -

(क) यदि वह भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन, ऐसे पद को छोड़कर, जिसको धारण करने वाले का निरर्हित न होना संसद् ने विधि द्वारा घोषित किया है, कोई लाभ का पद धारण करता है ;

(ख)

(ग)

(घ)

(ङ)

स्पष्टीकरण - इस खंड के प्रयोजनों के लिए, कोई व्यक्ति केवल उस कारण भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का या ऐसे राज्य का मंत्री है ।”

14. श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि संविधान के अनुच्छेद 58(2) में उपर्युक्त भाषा के समरूप भाषा सम्मिलित की गई थी और उसमें यह उपबंध है कि कोई व्यक्ति, जो भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है, राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र नहीं होगा । श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि जैसा कि अनुच्छेद 102 के स्पष्टीकरण में उपबंध है, अनुच्छेद 58 के खंड (2) के स्पष्टीकरण में भी यह उपदर्शित है कि कोई व्यक्ति केवल इस कारण कोई लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति या किसी राज्य का राज्यपाल है अथवा संघ का या किसी राज्य का मंत्री है । श्री जेठमलानी ने इस बात

पर जोर दिया कि अनुच्छेद 102 के अधीन राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित ऐसे किसी व्यक्ति को व्यावृत्त नहीं किया जा सकता है यदि वह लाभ का पद धारण करता है ।

15. श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि प्रत्यर्थी की ओर से फाइल किए गए शपथपत्र के उपाबंधों से यह अत्यंत शंकास्पद था कि क्या प्रत्यर्थी ने, जैसी कि उसने दलील दी है, तारीख 20 जून, 2012 को संस्थान के अध्यक्ष के पद से या कांग्रेस पार्टी की सदस्यता से, जिसमें उसकी कार्यकारिणी समिति भी है और लोक सभा में कांग्रेस पार्टी के नेता के पद से उसी तारीख को त्यागपत्र दे दिया था । श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि संस्थान के प्रधान प्रोफेसर एम. जी. के. मेनन को संबोधित पत्र की प्रति से यह अभिनिश्चित नहीं किया जा सकता था कि प्रोफेसर मेनन द्वारा किया गया पृष्ठांकन प्रत्यर्थी का त्यागपत्र मंजूर किए जाने की कोटि में आता है या पत्र प्राप्त किए जाने की ही कोटि में आता है । विद्वान् काउन्सेल ने इस बात पर जोर दिया कि यह भारत के संविधान के अनुच्छेद 71 के अर्थान्तर्गत “शंका” का एक और मामला है जिसमें यह अपेक्षित है कि निर्वाचन अर्जी का विचारण ऐसे वाद के रूप में किया जाए जिसके लिए साक्ष्य लेकर और साक्षियों की प्रतिपरीक्षा अनुज्ञात करके विस्तृत सुनवाई की जानी अपेक्षित है ।

16. यह भी दलील दी गई थी कि “लाभ का पद” अभिव्यक्ति को आज तक न तो राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 के अधीन और न ही स्वतंत्रता-पूर्व के किसी अन्य कानून के अधीन निश्चित रूप से स्पष्ट किया गया है और उसका समाधान इस न्यायालय द्वारा किया जाना अपेक्षित है । इस संबंध में, श्री जेठमलानी ने **शिवू सोरेन बनाम दयानन्द सहाय और अन्य¹** वाले मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया जिसमें उपर्युक्त अभिव्यक्ति पर विचार किया गया था और इस न्यायालय ने अनुच्छेद 102(1)(क) और अनुच्छेद 191(1)(क) के उपबंधों का निर्वचन करते हुए इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया कि ऐसा निर्वचन उक्त अनुच्छेदों के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए यथार्थवादी होना चाहिए । यह मत व्यक्त किया गया था कि “लाभ” अभिव्यक्ति से “प्रतिकर” से भिन्न किसी धनीय अभिलाभ का भाव द्योतित होता है । यह

¹ (2001) 7 एस. सी. सी. 425.

अवधारित करने के लिए कि वह पद लाभ का पद है अथवा नहीं, न तो संदत्त रकम की मात्रा और न ही वह नाम जिसके अधीन संदाय किया जाता है, सदैव तात्विक हो सकता है। इस न्यायालय ने आगे यह मत व्यक्त किया कि मात्र “मानदेय” शब्द का प्रयोग करने से उस संदाय को लाभ की संकल्पना से परे नहीं लाया जा सकता है यदि प्राप्तिकर्ता को कुछ धनीय अभिलाभ होता है। उक्त मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रतिकरात्मक भत्तों की प्रकृति के दैनिक भत्तों के अतिरिक्त किसी मानदेय का संदाय, राज्य के व्यय पर किराया-मुक्त वास-सुविधा और चालक सहित कार सुविधा पारिश्रमिक की प्रकृति के थे और वह धनीय अभिलाभ का एक स्रोत है और इसलिए उससे लाभ गठित होता है। श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि उक्त मामले में ऐसी मताभिव्यक्ति के आधार पर ही निर्वाचन अर्जी मंजूर की गई थी।

17. श्री जेठमलानी ने **जया बच्चन बनाम भारत संघ और अन्य**¹ वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रति भी निर्देश किया जिसमें “मानदेय” अभिव्यक्ति का प्रयोग करने और पद के धारक की वित्तीय हैसियत या उस पद से लाभ कमाने में धारक के हित से संबंधित उसके प्रभाव के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 102 और अन्य उपबंधों के अर्थान्तर्गत “लाभ का पद” वाक्यांश निर्वाचन के लिए उद्भूत हुआ। यह मत व्यक्त किया गया था कि जो कुछ सुसंगत था वह यह था कि क्या उस पद द्वारा मूल खर्च/वास्तविक व्ययों की प्रतिपूर्ति के अलावा कोई लाभ या धनीय अभिलाभ कमाया जा सकता था और न कि यह सुसंगत था कि क्या व्यक्ति ने वास्तव में धनीय अभिलाभ प्राप्त किया था या उन उपलब्धियों को नहीं निकाला था जिनका वह हकदार था। तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने, जिसने मामले की सुनवाई की थी, यह अभिनिर्धारित किया कि लाभ का पद वह पद है जिससे धनीय अभिलाभ के फायदे प्राप्त किए जा सकते हैं और केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकार के अधीन ऐसा पद धारण करना जिससे कुछ वेतन, संबलम, उपलब्धि, पारिश्रमिक या गैर-प्रतिकरात्मक भत्ता संलग्न है, “लाभ का कोई पद धारण करना” है। तथापि, इस प्रश्न का निर्वाचन यथार्थवादी रीति में किया जाना है कि कोई व्यक्ति लाभ का पद धारण करता है अथवा नहीं और संदाय की प्रकृति को सार का न कि प्रकार का विषय समझा जाना चाहिए। माननीय न्यायाधीशों ने आगे यह मत व्यक्त किया कि इस प्रश्न का विनिश्चय करते समय कि

¹ (2006) 5 एस. सी. सी. 266.

कोई व्यक्ति लाभ का पद धारण किए हुए है अथवा नहीं, जो कुछ सुसंगत है वह यह है कि क्या उस पद द्वारा कोई लाभ या धनीय अभिलाभ प्राप्त किया जा सकता है न कि यह कि उस व्यक्ति ने उससे कोई धनीय अभिलाभ वास्तव में प्राप्त किया था अथवा नहीं ।

18. इसी संबंध में, एम. वी. राजशेखरन और अन्य बनाम वटल नागराज और अन्य¹ वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रति भी निर्देश किया गया था जिसमें “लाभ का पद” अभिव्यक्ति विचारार्थ उद्भूत हुई थी ।

19. श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए निर्वाचन अर्जी उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 के नियम 20 में यथा-अनुध्यात नियमित सुनवाई किए जाने योग्य है ।

20. प्रत्यर्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री हरीश साल्वे ने यह दलील दी कि भारत के राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचन राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 (जिसे इसमें इसके पश्चात् “1952 का अधिनियम” कहा गया है) के उपबंधों और विशेषकर उसके भाग 3 के अधीन विनियमित होता है, जो कि निर्वाचन संबंधी विवादों के बारे में है । श्री साल्वे ने यह इंगित किया कि अधिनियम की धारा 14 और 14क में 1952 के अधिनियम के अधीन निर्वाचन अर्जियों का उक्त धाराओं में विहित रीति में विचारण करने की अधिकारिता विनिर्दिष्ट रूप से उच्चतम न्यायालय में निहित की गई है । तदनुसार, राष्ट्रपतीय निर्वाचन को दी जाने वाली चुनौती में उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 के उपबंधों का अनुपालन करना होगा जो 1952 के अधिनियम के भाग 3 के अधीन निर्वाचन अर्जियों के संबंध में है । अतः, उच्चतम न्यायालय नियमों के आदेश 39 का नियम 13 लागू हो जाता है और इसमें यह व्यादिष्ट है कि निर्वाचन अर्जी पेश किए जाने पर उसे न्यायालय के पांच न्यायाधीशों वाली न्यायपीठ के समक्ष प्रारंभिक सुनवाई के लिए उसका यह समाधान करने के लिए प्रस्तुत किया जाना होता है कि वह अर्जी नियम 20 में यथा-अनुध्यात नियमित सुनवाई किए जाने योग्य है । निर्देश की दृष्टि से, 1952 के अधिनियम की धारा 14 और 14क इसमें इसके नीचे उद्धृत की जाती है :-

“14.(1) कोई भी निर्वाचन उपधारा (2) में विनिर्दिष्ट प्राधिकरण

¹ (2002) 2 एस. सी. सी. 704.

को पेश की गई निर्वाचन अर्जी द्वारा ही प्रश्नगत किया जाएगा, अन्यथा नहीं ।

(2) उच्चतम न्यायालय निर्वाचन अर्जी का विचारण करने की अधिकारिता रखने वाला प्राधिकरण होगा ।

(3) हर निर्वाचन अर्जी ऐसे प्राधिकरण को उस भाग के उपबंधों और उच्चतम न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 145 के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार पेश की जाएगी ।

14क.(1) निर्वाचन को प्रश्नगत करने वाली अर्जी धारा 18 की उपधारा (1) में और धारा 19 में विनिर्दिष्ट आधारों में से एक या अधिक आधारों पर ऐसे निर्वाचन के किसी अभ्यर्थी द्वारा, या –

(क) राष्ट्रपतीय निर्वाचन की दशा में, बीस या अधिक निर्वाचकों द्वारा संयुक्त अर्जीदारों के रूप में,

(ख) उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन की दशा में, दस या अधिक निर्वाचकों द्वारा संयुक्त अर्जीदारों के रूप में,

उच्चतम न्यायालय में पेश की जा सकेगी ।

(2) ऐसी कोई अर्जी उस घोषणा के, जिसमें धारा 12 के अधीन निर्वाचन में निर्वाचित अभ्यर्थी का नाम हो, प्रकाशन की तारीख के पश्चात् किसी भी समय पेश की जा सकेगी किन्तु ऐसे प्रकाशन की तारीख से तीस दिनों के पश्चात् पेश नहीं की जा सकेगी ।”

21. श्री साल्वे ने यह दलील दी कि संबंधित अभ्यर्थियों के नामनिर्देशन पत्रों की रिटर्निंग आफिसर द्वारा 1952 के अधिनियम की धारा 5क के उपबंधों के अनुसार संवीक्षा की गई थी । श्री साल्वे ने धारा 5ड की उपधारा (3) के प्रति निर्देश करते हुए यह दलील दी कि उपधारा (3) में उपदर्शित सभी औपचारिकताओं को पूरा करने के पश्चात् रिटर्निंग आफिसर ने प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन पत्रों को विधिमान्य नामनिर्देशन पत्रों के रूप में स्वीकार किया था जिसके पश्चात् प्रत्यर्थी को निर्वाचन लड़ने का अधिकार प्राप्त हो गया था । श्री साल्वे ने यह दलील दी कि 1952 के अधिनियम की धारा 14 संविधान के अनुच्छेद 71 के खंड (3) के अधीन अधिनियमित की गई थी जिसमें यह उपबंध है कि संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित या संसक्त किसी विषय का विनियमन संसद् विधि द्वारा कर सकेगी ।

22. श्री साल्वे ने यह दलील दी कि राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन को संसद् और अन्य राज्य विधान मंडलों के सदस्यों के निर्वाचन की तुलना में भिन्न स्तर का माना गया है। जबकि अनुच्छेद 102 (संसद् के) सदन के सदस्यों के निर्वाचन के संबंध में है, अनुच्छेद 58 भारत के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में है जिसकी बाबत सर्वथा इस संबंध में अधिकथित विधि के अनुसार कार्यवाही की जानी होती है। श्री साल्वे ने अपनी पूर्वोक्त दलील के समर्थन में **चरन लाल साहू** बनाम **नीलम संजीवा रेड्डी**¹ वाले मामले में इस न्यायालय के सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया जिसमें इस न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 71(1) और उसके अनुच्छेद 58 के बीच अभिकथित विरोधाभास पर विचार किया गया था और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अनुच्छेद 58 में राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने के लिए अभ्यर्थी की पात्रता के संबंध में मात्र अर्हता के लिए उपबंध किया गया है और उसका ऐसे अभ्यर्थी के नामनिर्देशन से कोई सरोकार नहीं है जिसमें 10 प्रस्तावकों और 10 समर्थनकर्ताओं की अपेक्षा की गई है। 1952 के अधिनियम की धारा 5ख और 5ग के उपबंधों पर भी विचार किया गया था और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वे संविधान के अनुच्छेद 14 के परस्पर-विरोध में नहीं हैं। संविधान के अनुच्छेद 71(3) को भी ऐसी विधि समझा गया था जिसके द्वारा संसद् राष्ट्रपतीय निर्वाचनों से संसक्त विषयों को, जिसमें ऐसे किसी निर्वाचन से उद्भूत होने वाले निर्वाचन विवादों से संबंधित विषय भी हैं, विनियमित कर सकेगी। न्यायपीठ के माननीय न्यायाधीशों ने अपने पूर्ववर्ती निर्णयों का अवलंब लेते हुए यह अभिनिर्धारित किया था कि न तो संविधान के अनुच्छेद 71(3) और न ही 1952 की धारा 5ख या धारा 5ग के उपबंधों को दी गई चुनौती में कोई बल है।

23. अर्जीदार, सी. एल. साहू ने भारत के राष्ट्रपति के रूप में श्री ज्ञानी जैल सिंह के निर्वाचन को भी चुनौती दी थी और उस चुनौती का इस न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए खंडन कर दिया गया था कि अर्जीदार को वह अर्जी फाइल करने का कोई अधिकार नहीं था।

24. श्री साल्वे ने अंततः **मिथिलेश कुमार** बनाम **आर. वेंकटरमण और अन्य**² वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रति निर्देश

¹ (1978) 2 एस. सी. सी. 500.

² (1987) सप्ली. एस. सी. सी. 692.

किया जिसमें समरूप प्रश्न उठाए जाने पर इस न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने श्री नीलम संजीवा रेड्डी और श्री ज्ञानी जैल सिंह के भारत के पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों के रूप में हुए निर्वाचन को दी गई चुनौती में अपनाए गए अपने पूर्ववर्ती मतों को दोहराया था ।

25. इसके बाद, श्री साल्वे ने इस बात पर जोर दिया कि चूंकि संविधान के अनुच्छेद 145 के अधीन विरचित उच्चतम न्यायालय नियमों के आदेश 39 के उपबंध 1952 के अधिनियम की धारा 14 के अनुसार इस प्रकार विरचित किए गए थे इसलिए राष्ट्रपति के निर्वाचन को चुनौती देने से संबंधित किसी विवाद को विनिश्चित करते समय सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 141 के उपबंधों को महत्व नहीं दिया जा सकता था ।

26. श्री साल्वे ने यह दलील दी कि उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 का नियम 13 तारीख 9 दिसम्बर, 1997 को प्रतिस्थापित हो गया था और प्रतिस्थापित उपबंध तारीख 20 दिसम्बर, 1997 को प्रभावी हुआ । मूल नियम में, जो प्रतिस्थापित हो गया था, यह सिद्ध करने के लिए प्रारंभिक सुनवाई करने का कोई उपबंध नहीं था कि निर्वाचन अर्जी नियमित सुनवाई किए जाने योग्य है अथवा नहीं । तथापि, लगभग सभी निर्वाचित राष्ट्रपतियों के निर्वाचनों को बार-बार और तुच्छ आधारों पर चुनौती दिए जाने के कारण ऐसा संशोधन करने की आवश्यकता महसूस हुई थी जिससे कि इस बात का आरंभ में ही मूल्यांकन किया जा सके कि राष्ट्रपतीय निर्वाचन को चुनौती देने वाली ऐसी निर्वाचन अर्जी नियमित सुनवाई किए जाने योग्य है अथवा नहीं ।

27. इसके बाद, श्री साल्वे ने यह दलील दी कि भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष का पद लाभ का पद नहीं था क्योंकि वह पद अवैतनिक था और उक्त पद के साथ कोई वेतन या अन्य कोई फायदा नहीं जुड़ा हुआ था । विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि यदि इस निर्वाचन को, जो श्री राम जेठमलानी ने देने की ईप्सा की है, स्वीकार कर भी लिया जाए कि हो सकता है उस पद से कोई प्रत्यक्ष फायदा प्राप्त न होता हो किन्तु उससे ऐसे अप्रत्यक्ष फायदे हो सकते हैं जो उसे लाभ का पद बनाते हों, तो भी उक्त पद के लिए न तो कोई मानदेय प्रदान किया जाता है और न ही उस पद से कोई ऐसा फायदा प्राप्त हो सकता है जो कि उसे लाभ का पद बना सके । श्री साल्वे ने यह दलील दी कि श्री राम जेठमलानी द्वारा **शिवू सोरेन** (उपर्युक्त) और **जया बच्चन** (उपर्युक्त) वाले मामलों में उद्धृत विनिश्चयों में प्रतिपादित विधि मान्य विधि थी और वास्तव

में वह पद, जो प्रत्यर्थी संस्थान के अध्यक्ष के रूप में धारण किए हुए था, लाभ का ऐसा पद नहीं था जो उसे भारत के राष्ट्रपति के पद के अभ्यर्थी के रूप में निर्वाचन लड़ने के लिए पात्र होने से निरर्हित बनाता हो।

28. जहां तक सदन के नेता का पद धारण करने का संबंध है, श्री साल्वे ने यह दलील दी कि ऐसा पद धारण करने वाला सामान्य रूप से सरकार का केन्द्रीय मंत्री होता है और वह निश्चित रूप से भारत सरकार द्वारा नियुक्त कोई व्यक्ति नहीं होता है जिससे कि उसे संविधान के अनुच्छेद 58 के खंड (2) के वर्जन के भीतर लाया जा सके। श्री साल्वे ने अपनी इस दलील के समर्थन में कि इस मामले के तथ्यों को सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 141 के उपबंध लागू नहीं होते हैं, **मांगे राम बनाम ब्रज मोहन और अन्य¹** वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया जिसमें किसी निर्वाचन अर्जी के विचारण के संबंध में सिविल प्रक्रिया संहिता और उच्च न्यायालय नियमों पर विचार किया गया था और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जहां आवश्यक हो, सिविल प्रक्रिया संहिता के उपबंधों को लागू किया जा सकता है किन्तु केवल तभी जब उच्च न्यायालय नियम अर्जी के विचारण के दौरान साक्षियों को पेश करने के प्रयोजनार्थ या अन्यथा पर्याप्त रूप से प्रभावी न हों। श्री साल्वे ने **रावन्ना सुबन्ना बनाम जी. एस. कगीरप्पा²** वाले मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ के विनिश्चय के प्रति भी निर्देश किया जो कि मैसूर टाउन म्युनिसिपल ऐक्ट, 1951 के अधीन एक पार्षद के निर्वाचन से संबंधित मैसूर का एक मामला था। जो दो प्रश्न उठाए गए थे उनमें से एक मुद्दा इस प्रश्न के संबंध में था कि क्या उस मामले में अपीलार्थी के बारे में यह कहा जा सकता था कि वह सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था और तद्वारा उसे निरर्हता से संबंधित उपबंध लागू होते थे। माननीय न्यायमूर्तियों ने “लाभ का पद” अभिव्यक्ति के स्पष्ट अर्थ के संबंध में अन्य बातों के साथ-साथ यह मत व्यक्त किया कि “लाभ” शब्द से धनीय अभिलाभ का आशय द्योतित होता है और यदि उसमें वास्तव में कोई अभिलाभ हुआ था तो उसकी मात्रा या रकम तात्त्विक नहीं होगी बल्कि किसी व्यक्ति द्वारा उस पद के संबंध में, जो वह धारण करता है, प्राप्त होने वाली धनराशि यह विनिश्चित करने के लिए तात्त्विक हो सकती है कि उस पद के साथ वास्तव में कोई लाभ जुड़ा हुआ है अथवा नहीं। माननीय

¹ (1983) 4 एस. सी. सी. 36.

² ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 653.

न्यायमूर्तियों ने आगे निम्न प्रकार मत व्यक्त किया :-

“ऊपरकथित तथ्यों से युक्तियुक्त रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 6 रुपए की वह फीस, जो कि गैर-सरकारी अध्यक्ष, समिति की ऐसी प्रत्येक बैठक के लिए, जिसमें वह भाग लेता है, लेने का हकदार है, पारिश्रमिक या लाभ के तौर पर किया जाने वाला संदाय नहीं है बल्कि यह उस व्यय के लिए, जो उसे अपनी ओर से समिति की बैठकों में भाग लेने के लिए उपगत करना पड़ा हो, एक समेकित फीस के रूप में उसे दिया जाने वाला अभिलाभ है। हम यह नहीं समझते कि सरकार का, जिसने इन तालुक विकास समितियों का सृजन किया था जिनमें अनन्य रूप से गैर-सरकारी सदस्य रखे जाने थे, यह आशय था कि अध्यक्ष या सदस्यों के पद के साथ कोई लाभ या पारिश्रमिक जुड़ा होना चाहिए।”

श्री साल्वे ने इस बात पर जोर दिया कि वर्तमान मामले में भी भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष पद से उस पद के धारक को कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ था जो कि संपूर्णतः उसके धारक को दिया गया सम्मान था। श्री साल्वे ने **शिवू सोरेन** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के उस विनिश्चय के प्रति भी, जिसके प्रति श्री राम जेठमलानी द्वारा पहले ही निर्देश किया गया था, निर्देश किया और यह इंगित किया कि भारत के संविधान का अनुच्छेद 102(1)(क) दोनों सदनों का सदस्य चुने जाने या संसद् के किसी भी सदन का सदस्य होने के लिए निरर्हता के संबंध में है और इससे भारत के राष्ट्रपति के पद पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

29. श्री साल्वे द्वारा उपर्युक्त संदर्भ में जिस अंतिम विनिश्चय के प्रति निर्देश किया गया था वह **मधुकर जी. ई. पंकाकर बनाम जसवंत छबीलदास रजनी**¹ वाले मामले में इस न्यायालय का विनिश्चय था और इस मामले में भी “लाभ का पद” अभिव्यक्ति पर विचार किया गया था। उक्त विनिश्चय के पैरा 31 में **रावन्ना सुबन्ना** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चय के प्रति निर्देश किया गया था और उक्त विनिश्चय के विनिश्चयाधार की बीमा चिकित्सा व्यवसायियों के संबंध में परीक्षा की गई थी। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि याची ने लाभ व्युत्पन्न किया था किन्तु प्रश्न यह था कि क्या वह सरकार के अधीन पद धारण किए हुए था। चूंकि पद को मात्र धारित करना निरर्हता नहीं है, भले

¹ (1977) 1 एस. सी. सी. 70.

ही कोई बैठक फीस या नगण्य मानदेय संदत्त क्यों न किया गया हो, अतः अंततोगत्वा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अभ्यर्थिता पर वर्जन या निर्वाचन संबंधी निरर्हता का सारवान् संबंध उसके परिणाम, अर्थात्, नगरपालिक अध्यक्ष के रूप में अपने कर्तव्य करते हुए बीमा चिकित्सा व्यवसायी के रूप में अपनी स्थिति के संभावित दुरुपयोग से अवश्य होना चाहिए ।

30. प्रत्यर्थी द्वारा धारित संस्थान के अध्यक्ष पद से उसका त्यागपत्र स्वीकार किए जाने से संबंधित दूसरे प्रश्न के संबंध में श्री साल्वे ने यह दलील दी कि प्रत्यर्थी द्वारा संस्थान के प्रधान को संबोधित उसके त्यागपत्र में प्रत्यर्थी के हस्ताक्षर और उसके अन्य हस्ताक्षरों में अभिकथित शंका इस बात का संदेह करने का कोई आधार नहीं था कि उक्त दस्तावेज़ कूटरचित था विशेषकर तब जब प्रत्यर्थी द्वारा यह स्वीकार किया गया था कि वे उसके हस्ताक्षर थे और वह पत्रों और दस्तावेज़ों पर हस्ताक्षर करते समय दोनों प्रकार के हस्ताक्षरों का प्रयोग करता है । श्री साल्वे ने इस संबंध में **भारत संघ और अन्य बनाम गोपाल चन्द्र मिश्रा और अन्य¹** वाले मामले में इस न्यायालय की संविधान पीठ के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया जिसमें इस प्रश्न पर कुछ विस्तार से विचार किया गया है कि पद का त्यजन कब होता है या कब से प्रभावी होता है । पद त्यजन के, चाहे वह तत्काल प्रभाव से हो या किसी भावी तारीख से, विभिन्न पहलुओं पर विचार करते समय इस न्यायालय द्वारा निकाले गए अंतिम निष्कर्षों से जो प्रतिपादनाएं उद्भूत हुई थीं उनमें से एक प्रतिपादना यह थी कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, अध्यक्ष इत्यादि जैसे सांविधानिक कृत्यकारियों के संबंध में अनुच्छेद 217(1)(क) के उपबंधों और समरूप उपबंधों को ध्यान में रखते हुए, एक बार समुचित प्राधिकारी को त्यागपत्र प्रस्तुत और संसूचित किए जाने के पश्चात् पूर्ण और अप्रतिसंहरणीय हो जाता है और वह स्वबल से कार्य करता है । इसमें एकमात्र अंतर यह है कि जब त्यागपत्र किसी भावी तारीख से पद त्याग करने के आशय से प्रस्तुत किया जाता है, तब उस दशा में यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि नियत तारीख से पूर्व ऐसे त्यागपत्र को विखंडित किया जा सकता है ।

31. श्री साल्वे द्वारा इस संबंध में निर्दिष्ट अगला मामला इस न्यायालय द्वारा **मोती राम बनाम परम देव²** वाले मामले में किया गया विनिश्चय है जिसमें हिमाचल प्रदेश खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड के अध्यक्ष

¹ (1978) 2 एस. सी. सी. 301.

² (1993) 2 एस. सी. सी. 725.

पद से यह अनुरोध करते हुए त्यागपत्र देने से संबंधित समरूप प्रश्न उद्भूत हुआ था कि वह त्यागपत्र पत्र की तारीख से ही मंजूर किया जाए। इस न्यायालय ने उक्त प्रश्न पर विचार करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त बोर्ड के अध्यक्ष का पद धारण करने वाले व्यक्ति को त्यागपत्र देना चाहिए और वह त्यागपत्र हिमाचल प्रदेश सरकार में विभागाध्यक्ष को संसूचित किए जाने की तारीख से प्रभावी होगा।

32. श्री साल्वे ने निर्वाचन अर्जी में की एक भिन्न टिप्पणी के आधार पर यह उल्लेख किया कि पैरा 2(XVI) में किए गए अभिकथनों को अर्जीदार द्वारा तारीख 20 अगस्त, 2012 के शपथित सत्यापन और शपथपत्र दोनों में उस जानकारी के आधार पर, जो प्राप्त हुई थी और सही समझी गई थी, सत्य और ठीक माना गया था। श्री साल्वे ने यह दलील दी कि उच्चतम न्यायालय नियमों के आदेश 39 के नियम 6 के अधीन किसी राष्ट्रपतीय निर्वाचन को चुनौती देने वाली निर्वाचन अर्जी में अंतर्विष्ट तथ्य संबंधी अभिकथन अर्जीदार द्वारा व्यक्तिगत रूप से या यदि एक से अधिक अर्जीदार हों तो अर्जीदारों में से किसी एक अर्जीदार की ओर से इस शर्त के अधीन रहते हुए शपथपत्र द्वारा सत्यापित किए जाने आवश्यक थे कि यदि अर्जीदार नियम 6 के परन्तुक में उपदर्शित कारणों से ऐसा कोई शपथपत्र करने में असमर्थ था तो अर्जीदार द्वारा सम्यक् रूप से प्राधिकृत कोई व्यक्ति आसीन न्यायाधीश की मंजूरी से ऐसा शपथपत्र करने के लिए हकदार होगा। श्री साल्वे ने यह दलील दी कि वर्तमान मामले में अर्जीदार की ओर से सत्यापन किए जाने का ऐसा कोई अवसर उद्भूत नहीं हुआ था।

33. श्री साल्वे ने “सदन के नेता” के पद के संबंध में संसद् और विशेष रूप से लोक सभा की पद्धति और प्रक्रिया के प्रति निर्देश किया, जिसमें अन्य निकायों की सदस्यता से त्यागपत्र देने के संबंध में सदन के नेता की दशा में जिस प्रक्रिया का अनुसरण किया गया था वह यह थी कि जब लोक सभा का कोई ऐसा सदस्य, जो संसदीय या सरकारी समितियों, बोर्डों, निकायों का प्रतिनिधित्व कर रहा है, अध्यक्ष को पत्र लिखकर उस निकाय की सदस्यता से त्यागपत्र देने की ईप्सा करता है तो उसे अपना त्यागपत्र उस समिति, बोर्ड या निकाय के अध्यक्ष को संबोधित करना होता है और उस पद को खाली कर देने पर वह समिति का सदस्य नहीं रहता है। श्री साल्वे ने यह दलील दी कि उसके द्वारा कांग्रेस अध्यक्ष और संसद् में कांग्रेस पार्टी की अध्यक्ष को तारीख 20 जून, 2012 को तत्काल प्रभाव से त्यागपत्र देने पर ऐसा त्यागपत्र तुरंत प्रवर्तन में आ गया था और इसके

बाद उसकी औपचारिक स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं थी ।

34. श्री साल्वे ने यह दलील दी कि “किसी लाभ के पद के धारक” अभिव्यक्ति के संबंध में दी गई दलीलों के होते हुए भी, अर्जीदार उक्त दलील भी नहीं दे सकता क्योंकि संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 की धारा 3 में, वर्ष 2006 में किए गए संशोधन के कारण संस्थान के अध्यक्ष के पद को भारत के संविधान के अनुच्छेद 58(2) के निरर्हता संबंधी उपबंधों से अपवर्जित कर दिया गया था । श्री साल्वे ने यह दलील दी कि उपर्युक्त अधिनियम यह घोषित करने के लिए अधिनियमित किया गया था कि सरकार के अधीन कतिपय लाभ के पद, जिनमें किसी कानूनी या अकानूनी निकाय में अध्यक्ष का पद भी है, उसके धारक को अनुच्छेद 102(1)(क) के अधीन यथा-अनुध्यात संसद् सदस्य चुने जाने या होने के लिए निरर्हित नहीं करेंगे । उक्त संशोधन के आधार पर मूल अधिनियम की अनुसूची के पश्चात् एक नई सारणी अंतःस्थापित की गई थी जो कि तारीख 4 अप्रैल, 1959 से अंतःस्थापित की गई समझी जाएगी । भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता को उस सारणी के क्रम संख्यांक 4 पर रखा गया है । तदनुसार, श्री जेठमलानी द्वारा प्रत्यर्थी के राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचन के लिए नामनिर्देशन फाइल करने की तारीख को संस्थान के अध्यक्ष के रूप में लाभ का पद धारण करने के संबंध में दी गई दलीलें सही नहीं थीं और वे निकाल दी जानी चाहिए थीं ।

35. श्री साल्वे ने यह दलील दी कि पक्षकारों की ओर से दी गई दलीलों को ध्यान में रखते हुए श्री पूर्णो अगितोक संगमा द्वारा फाइल की गई निर्वाचन अर्जी उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 के नियम 20 में यथा-अनुध्यात नियमित सुनवाई किए जाने योग्य नहीं थी और वह खारिज की जानी चाहिए थी ।

36. विद्वान महान्यायवादी श्री गुलाम ई. वाहनवती ने प्रथमतः इस बात पर जोर दिया कि “लाभ का पद” अभिव्यक्ति का निर्वचन पांडित्यपूर्ण रीति में नहीं किया जाना चाहिए और पद के कर्तव्यों और कृत्यों और उसके धारक को व्युत्पन्न फायदों को ध्यान में रखते हुए उस पर विचार किया जाना है । श्री वाहनवती ने यह इंगित किया कि संस्थान के अध्यक्ष का पद पूर्णतः अवैतनिक पद था जो कि उसके धारक को सम्मान देने के लिए था । इसमें अध्यक्ष द्वारा संस्थान के प्रशासन में सक्रिय भाग लेना अपेक्षित नहीं था जिसकी देखभाल प्रधान और संस्थान के नियमों और विनियमों के अधीन गठित उसकी परिषद् करती थी । श्री वाहनवती ने यह

दलील भी दी कि वह पद पूर्णतः अवैतनिक स्वरूप का था और इससे उसके धारक को किसी भी प्रकार से या तो धनीय रूप से या अन्यथा कोई फायदा नहीं मिलता था और न ही उससे कोई लाभ व्युत्पन्न होने की कोई संभाव्यता थी। तदनुसार, भले ही श्री जेठमलानी ने यह दलील दी है कि नामनिर्देशन फाइल करने की तारीख को प्रत्यर्थी उक्त पद धारण किए हुए था तो भी इससे वह राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने से निरर्हित नहीं हो जाएगा।

37. इस संबंध में, विद्वान महान्यायवादी ने **कंज्यूमर एजुकेशन एंड रिसर्च सोसायटी** बनाम **भारत संघ और अन्य**¹ वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया जिसमें लाभ का पद धारण करने वाले व्यक्तियों के संसद् सदस्यों के रूप में बने रहने संबंधी निरर्हता के संबंध में 2006 के संशोधन अधिनियम द्वारा यथा-संशोधित 1959 के अधिनियम के उपबंधों पर विचार किया गया था। इस न्यायालय के समक्ष संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन फाइल की गई रिट याचिकाओं में अनुच्छेद 101(3)(क) और अनुच्छेद 103 के उपबंधों पर विचार करते हुए, संसद् (निरर्हता निवारण) संशोधन अधिनियम, 2006 की सांविधानिकता को इस आधार पर प्रश्नगत किया गया था कि उक्त अधिनियम द्वारा उन “लाभ के पदों” को सूची में भूतलक्षी रूप से जोड़ा गया था जो उनके धारक को संसद् सदस्यों के रूप में चुने जाने के लिए निरर्हित नहीं करते हैं। रिट याचियों ने यह दलील दी कि वह संशोधन यह सुनिश्चित करने के लिए लाया गया था कि उन व्यक्तियों को, जो निरर्हताएं उपगत करने के कारण संसद् सदस्य नहीं रह गए थे निर्वाचन के बिना संसद् में पुनः प्रवेश दिया जाएगा, जिससे रिट याचियों के अनुसार, संविधान के अनुच्छेद 101 से अनुच्छेद 104 के उपबंधों का अतिक्रमण हुआ था।

38. इस न्यायालय ने उक्त प्रश्न का उत्तर यह अभिनिर्धारित करते हुए दिया था कि अनुच्छेद 102(1)(क) के अधीन कोई विधि अधिनियमित करने संबंधी संसद् की शक्ति में ऐसी विधि को भूतलक्षी रूप से अधिनियमित करने की संसद् की शक्ति भी शामिल है, जैसा कि **कांता कथूरिया** बनाम **मानक चन्द सुराना**² वाले मामले में अभिनिर्धारित किया गया था और बाद में **इंदिरा नेहरू गांधी** बनाम **राज नारायण**³ वाले मामले

¹ (2009) 9 एस. सी. सी. 648.

² (1969) 3 एस. सी. सी. 268.

³ (1975) सप्ली. एस. सी. सी. 1.

में दिए गए विनिश्चय में इसका अनुसरण किया गया था। तदनुसार, यदि कोई व्यक्ति अपने निर्वाचन के समय किसी निरर्हता के अधीन था तो संविधान के अनुच्छेद 101(3)(क) और अनुच्छेद 103 के उपबंध लागू नहीं होंगे और वह तब तक संसद सदस्य के रूप में बना रहेगा जब तक कि उच्च न्यायालय उस आधार पर फाइल की गई निर्वाचन अर्जी में यह घोषित नहीं कर देता है कि निर्वाचन की तारीख को वह निरर्हित था और परिणामस्वरूप उसके निर्वाचन को शून्य घोषित नहीं कर देता है। दूसरे शब्दों में, अनुच्छेद 101(3)(क) के अधीन रिक्ति केवल तभी उद्भूत होगी जब ऐसी निरर्हता के संबंध में सभापति या अध्यक्ष द्वारा सदन में विनिश्चय कर दिया गया था।

39. कारभारी भीमाजी रोहमारे बनाम शंकर राव गेनुजी कोल्हे और अन्य¹ वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रति भी निर्देश किया गया था जिसमें इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि महाराष्ट्र सरकार द्वारा गठित चीनी उद्योग के लिए मजदूरी बोर्ड के सदस्य ने, जो कि एक अवैतनिक पद था और सदस्यों को संदत्त किया जाने वाला मानदेय प्रतिकरात्मक भत्ते की प्रकृति का था, ऐसी शक्तियों का प्रयोग किया था जो कि आवश्यक रूप से राज्य की न्यायिक शक्ति का एक भाग थीं। अतः, ऐसा सदस्य सरकार के अधीन कोई पद धारण नहीं किए हुए था।

40. इसके अलावा, प्रद्युत बोरदोलोई बनाम स्वप्न राय² वाले मामले में इस न्यायालय के एक अन्य विनिश्चय के प्रति निर्देश किया गया था जिसमें कोल इंडिया लिमिटेड में, जो कि एक ऐसी कंपनी है जिसमें सरकार शत-प्रतिशत शेयरधारक है, क्लर्क ग्रेड-1 के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह ऐसा कोई लाभ का पद नहीं है जो उसके धारक को लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 10 या भारत के संविधान के अनुच्छेद 191(1)(क) के अधीन निरर्हित बनाता हो। इस मामले को विनिश्चित करते समय इस न्यायालय ने यह अवलोकन किया कि “लाभ का पद” अभिव्यक्ति की परिभाषा संविधान में नहीं दी गई है। यह मत व्यक्त किया गया था कि इस स्थिति में पूछा जाने वाला प्रथम प्रश्न यह था कि क्या सरकार को किसी व्यक्ति को उस पद पर नियुक्त करने या उससे हटाने की शक्ति है और यदि इसका उत्तर नकारात्मक है तो कोई और जांच की जानी अपेक्षित नहीं है। किन्तु, यदि इसका उत्तर

¹ (1975) 1 एस. सी. सी. 252.

² (2001) 2 एस. सी. सी. 19.

सकारात्मक है तो सरकार द्वारा उस पद के धारक पर रखे जाने वाले नियंत्रण के बारे में आगे जांच की जानी होगी। चूंकि उक्त मामले में, भारत सरकार ने प्रत्यर्थी की नियुक्ति, हटाए जाने, सेवा शर्तों और उसके कार्यकरण के संबंध में किसी नियंत्रण का प्रयोग नहीं किया था इसलिए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उक्त प्रत्यर्थी भारत सरकार के अधीन लाभ का पद धारण नहीं करता था और कोल इंडिया लिमिटेड में उसके क्लर्क होने से विधान सभा के सदस्य के रूप में उसके स्वतंत्र कार्यकरण पर कोई प्रभाव या दबाव नहीं पड़ा था।

41. विद्वान महान्यायवादी ने अंत में **अशोक कुमार भट्टाचार्य** बनाम **अजय विश्वास और अन्य**¹ वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय को उद्धृत किया और उस मामले में भी यह प्रश्न विचारार्थ उद्भूत हुआ था कि कौन-सी बात सरकार के अधीन लाभ के पद की कोटि में आती है और यह अभिनिर्धारित किया गया था कि स्थानीय प्राधिकरण में कर्मचारी सरकार के अधीन लाभ के पद धारण नहीं करते थे और इसलिए वे भारत के संविधान के अनुच्छेद 102(1)(क) और अनुच्छेद 191(1)(क) के अधीन या बंगाल म्युनिसिपल ऐक्ट, 1932 के उपबंधों के अधीन निरहित नहीं थे। माननीय न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अधिनियम के उपबंधों का विश्लेषण करने पर यह पूर्णतः स्पष्ट था कि यद्यपि सरकार ने कतिपय मात्रा में नियंत्रण और पर्यवेक्षण का प्रयोग किया था तथापि प्रत्यर्थी, जो कि असम राज्य में अगरतला नगरपालिका का भारसाधक लेखाकार था, सरकार का कर्मचारी नहीं था और वह सुसंगत समय पर स्थानीय नगरपालिका के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था जिसके कारण वह संविधान के अनुच्छेद 102(1)(क) की परिधि के भीतर नहीं आता था।

42. विद्वान महान्यायवादी ने यह दलील दी कि निरर्हता अधिनियम कोई पारिभाषिक अधिनियम नहीं है और न ही कभी ऐसा अभिप्रेत था और कोई भी अनुसूची में उस दशा में यह परिभाषा शामिल नहीं कर सकता जहां केवल संस्थान का उल्लेख किया जाता है। विद्वान महान्यायवादी ने श्री साल्वे द्वारा अभिव्यक्त भावों का समर्थन करते हुए यह दलील दी कि निर्वाचन अर्जी खारिज की जानी चाहिए थी।

43. श्री राम जेठमलानी ने श्री हरीश साल्वे और विद्वान महान्यायवादी द्वारा दी गई दलीलों का उत्तर देते हुए यह प्राख्यान किया कि 1959 का

¹ (1985) 1 एस. सी. सी. 151.

अधिनियम वास्तव में एक पारिभाषिक अधिनियम है और वह संविधान की सातवीं अनुसूची की पहली सूची की प्रविष्टि 73 के अंतर्गत आता है, जो संसद् को संसद् के लिए, राज्यों के विधान-मंडलों के लिए तथा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों और निर्वाचन आयोग के लिए निर्वाचन के संबंध में विधान बनाने के लिए सशक्त करती है। श्री जेठमलानी ने इस बात पर भी जोर दिया कि संस्थान पर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण था। वह अधिनियम जिसके अधीन संस्थान का गठन किया गया था, केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाया गया अधिनियम था और इसलिए अध्यक्ष के पद के बारे में यह अवश्य ही अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह केन्द्रीय सरकार के अधीन लाभ का पद था।

44. श्री जेठमलानी ने अपने इस पूर्ववर्ती पक्षकथन को दोहराते हुए कि निर्वाचन अर्जी नियमित रूप से सुनवाई किए जाने योग्य है, **एम. वी. राजशेखरन** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय के प्रति निर्देश किया जिसमें कर्नाटक सरकार द्वारा कन्नड़ भाषियों की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए नियुक्त किए गए एक-सदस्यीय आयोग के अध्यक्ष के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए है क्योंकि उसे केन्द्रीय मंत्री का रैंक प्रदान किया गया था और अध्यक्ष के वेतन और दिन-प्रतिदिन के व्ययों को पूरा करने के लिए 5 लाख रुपए के बजट का उपबंध किया गया था। इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि इस प्रश्न का निर्धारण मामले के विशिष्ट तथ्यों और उसकी परिस्थितियों में करना होगा कि कोई व्यक्ति सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था अथवा नहीं।

45. श्री जेठमलानी ने अंत में **कंज्यूमर एजुकेशन एंड रिसर्च सोसायटी** (उपर्युक्त) वाले विनिश्चय के प्रति निर्देश किया जिसका उल्लेख विद्वान महान्यायवादी द्वारा किया जा चुका था और न्यायालय का ध्यान उस निर्णय के पैरा 77 में की गई मताभिव्यक्तियों की ओर आकर्षित किया जहां कि यह मत व्यक्त किया गया था कि यह संसद् द्वारा विचार किए जाने का विषय है कि किस किस का पद सरकार के अधीन लाभ के पद की कोटि में आएगा और ऐसे लाभ के पद को छूट प्रदान की जानी है अथवा नहीं। किसी पद को छूट प्रदान करने के लिए विधान बनाते समय विधान-मंडल के सदस्यों की स्वतंत्रता को संरक्षित करने और यह सुनिश्चित करने के लिए कि वे कार्यपालिका के किसी भी प्रकार के असम्यक् प्रभाव से मुक्त हों, इस प्रश्न को ध्यान में रखना होता है कि क्या

ऐसा पद संसद् सदस्य के रूप में उसकी स्थिति से संगत है और क्या उसकी स्वतंत्रता से समझौता तो नहीं होगा और क्या संविधान के प्रति उसकी निष्ठा पर प्रतिकूल प्रभाव तो नहीं पड़ेगा। श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि चूंकि प्रत्यर्थी ने केन्द्रीय सरकार के अधीन पद धारित किया था इसलिए इस बात पर विचार किया जाना होगा कि क्या यह भारत के राष्ट्रपति के रूप में उसके कार्यकरण के लिए किसी भी प्रकार से जोखिमपूर्ण होगा या इससे उस पर प्रभाव पड़ेगा।

46. श्री जेठमलानी ने उत्तर देते समय इस बात पर जोर देकर अपनी दलीलों को एक नया आयाम दिया कि संस्थान के नियमों और उसकी उपविधियों में अध्यक्ष को एक बार नियुक्त हो जाने के पश्चात् अपने पद से त्यागपत्र देने की अनुज्ञा नहीं दी गई है। तदनुसार, भले ही प्रत्यर्थी ने उसके प्रधान डा. मेनन को अपना त्यागपत्र दे दिया था तो भी वह प्रभावी नहीं हुआ था और वह संस्थान के अध्यक्ष के रूप में बना रहा था। अतः, वह राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने के लिए निरर्हित था और उसके निर्वाचन को शून्य घोषित किया जाना चाहिए और उसके स्थान पर अर्जीदार को देश के सम्यक् रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति के रूप में घोषित किया जाना चाहिए।

47. संविधान में उस रीति के संबंध में उपबंध किया गया है जिसमें राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन को प्रश्नगत किया जा सकता है। अनुच्छेद 71 में राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित या संसक्त विषयों के लिए उपबंध किया गया है। अनुच्छेद 71 के खंड (1) में यह उपबंध किया गया है कि राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संसक्त सभी शंकाओं और विवादों की जांच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा और उसका विनिश्चय अंतिम होगा। उपखंड (3) में यह उपबंध है कि संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित या संसक्त किसी विषय का विनियमन संसद् विधि द्वारा कर सकेगी। इसके अलावा, राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम वर्ष 1952 में भारत के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पद पर निर्वाचन से संबंधित या संसक्त कतिपय विषयों का विनियमन करने के उद्देश्य से अधिनियमित किया गया था। जैसा कि श्री साल्वे ने उपदर्शित किया है, 1952 के अधिनियम की धारा 14 और धारा 14क में उसके अधीन निर्वाचन अर्जियों का उसमें उपदर्शित रीति में विचारण करने की अधिकारिता विशेष रूप से उच्चतम न्यायालय में निहित की गई है। वास्तव में, उक्त अधिनियम का भाग 3 भारत के राष्ट्रपति और

उपराष्ट्रपति के पदों के निर्वाचनों से संबंधित विवादों के संबंध में है जिसमें धारा 14 और धारा 14क तथा धारा 17 और धारा 18 हैं, जिनमें उच्चतम न्यायालय को या तो निर्वाचन को खारिज करने या निर्वाचित अभ्यर्थी के निर्वाचन को शून्य घोषित करने की या निर्वाचित अभ्यर्थी के निर्वाचन को शून्य घोषित करने और अर्जीदार या किसी अन्य अभ्यर्थी को सम्यक् रूप से निर्वाचित घोषित करने की शक्ति दी गई है।

48. उच्चतम न्यायालय ने, अधिनियम की धारा 14 की उपधारा (3) को ध्यान में रखते हुए संविधान के अनुच्छेद 145 के अधीन नियम विरचित किए हैं जो कि उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 में अंतर्विष्ट हैं। जैसा कि इससे पूर्व चर्चा की गई है, आदेश 39 के नियम 13 में यह उपबंध किया गया है कि भारत के राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचन को चुनौती देने से संबंधित कोई अर्जी पेश किए जाने पर उसे प्रारंभिक सुनवाई करने और इस बात पर विचार करने के लिए न्यायालय के पांच न्यायाधीशों की न्यायपीठ के समक्ष रखा जाएगा कि अर्जी आदेश 39 के नियम 20 में यथा-अनुध्यात नियमित सुनवाई किए जाने योग्य है अथवा नहीं और उस संदर्भ में ऐसी न्यायपीठ या तो अर्जी को खारिज कर सकती है या कोई ऐसा समुचित आदेश पारित कर सकती है, जो वह उपयुक्त समझे।

49. उपर्युक्त स्कीम के अधीन ही श्री पूर्णो अगितोक संगमा द्वारा श्री प्रणब मुखर्जी के भारत के राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन को चुनौती देते हुए फाइल की गई प्रस्तुत निर्वाचन अर्जी पर इस प्रश्न के संबंध में प्रारंभिक सुनवाई की गई है कि क्या वह नियमित सुनवाई किए जाने योग्य है अथवा नहीं।

50. यह चुनौती मुख्य रूप से इस अभिकथन पर आधारित है कि नामनिर्देशन फाइल करने की तारीख को प्रत्यर्थी श्री प्रणब मुखर्जी, “लाभ का पद” अर्थात् :-

(i) भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष ; और

(ii) लोक सभा में सदन के नेता,

का पद धारण किए हुए थे।

अर्जीदार की ओर से हाजिर होने वाले श्री राम जेटमलानी ने उपर्युक्त चुनौतियों के संबंध में इस बात पर जोर दिया था कि उक्त दो विवादों के बारे में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए यह आवश्यक था कि

अर्जीदार द्वारा किए गए अभिकथनों की सच्चाई का पता लगाने के लिए निर्वाचन अर्जी की बाबत नियमित सुनवाई की जाए। यह भी निवेदन किया गया था कि इसकी सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 141 के अधीन यथा-अनुध्यात रीति में पूर्णरूपेण सुनवाई की जानी आवश्यक है, जैसा कि उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के भाग 3 में अंतर्विष्ट उच्चतम न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता से संबंधित उपबंधों के साथ पठित आदेश 39 से स्पष्ट होता है।

51. दूसरी ओर, प्रत्यर्थी की ओर से हाजिर होने वाले श्री हरीश साल्वे ने इस बात पर जोर दिया है कि नामनिर्देशन फाइल करने की तारीख को श्री प्रणब मुखर्जी न तो उपर्युक्त संस्थान के अध्यक्ष का पद धारण किए हुए थे और न ही वे लोक सभा में सदन के नेता थे, क्योंकि उन्होंने दोनों पदों से अपना त्यागपत्र तारीख 20 जून, 2012 को दे दिया था।

52. इस संबंध में कुछ शंका है कि भारतीय सांख्यिकी संस्थान के अध्यक्ष का पद लाभ का पद है अथवा नहीं हालांकि उसे 2006 में यथा-संशोधित संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 के उपबंधों द्वारा संविधान के अनुच्छेद 102 की परिधि से अपवर्जित कर दिया गया है। इसे उन पदों की सारणी में सम्मिलित किए जाने पर, जिन्हें संसद् की सदस्यता से निरर्हित होने से व्यावृत्त किया गया है, लाभ के पद के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। तथापि, जैसी कि श्री साल्वे द्वारा दलील दी गई है, पद को लाभ के पद के रूप में प्रवर्गीकृत करने से वह वास्तव में ऐसा पद नहीं बन जाता क्योंकि इससे कोई लाभ प्राप्त नहीं होता था और वह पूर्णतः अवैतनिक प्रकृति का था। उक्त पद के धारक के साथ न तो कोई वेतन, न ही कोई मानदेय या कोई अन्य फायदा जुड़ा हुआ था। यह ऐसा पद नहीं था जिससे वस्तुतः कोई ऐसा लाभ प्राप्त किया जा सकता था जो उसे वास्तव में लाभ का पद बना सकता था।

53. उक्त प्रतिपादना के संबंध में **शिवू सोरेन** (उपर्युक्त) वाले मामले में विचार किया गया था जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि “मानदेय” शब्द का प्रयोग मात्र उस संदाय को लाभ की संकल्पना से बाहर नहीं ले जाएगा यदि प्राप्तिकर्ता को प्रतिकरात्मक भत्तों की प्रकृति के दैनिक भत्तों, राज्य के खर्च पर किराया-मुक्त वास-सुविधा और चालक सहित कार के अलावा कुछ धनीय अभिलाभ हुआ था।

54. इसी प्रकार का मत **जया बच्चन** (उपर्युक्त) वाले मामले में

व्यक्त किया गया था और उसमें इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि जो कुछ सुसंगत था वह यह था कि क्या उस पद से मूल व्यय/वास्तविक व्ययों की प्रतिपूर्ति से भिन्न कोई लाभ या धनीय अभिलाभ प्राप्त हो सकता था न कि क्या उस व्यक्ति ने वास्तव में कोई धनीय अभिलाभ प्राप्त किया था या ऐसी उपलब्धियों को नहीं निकाला था जिनका वह हकदार था। दूसरे शब्दों, यह बात तात्त्विक नहीं थी कि क्या पद धारण करने वाले व्यक्ति ने उसके अधीन फायदों को स्वीकार किया था अथवा नहीं बल्कि जो कुछ तात्त्विक था वह यह था कि क्या उक्त पद से कोई लाभ या धनीय अभिलाभ प्राप्त किया जा सकता था।

55. वर्तमान मामले में, संस्थान के अध्यक्ष के पद से इसमें इसके ऊपर उपदर्शित कोई भी सुख-सुविधा प्रदान नहीं की जाती थी और वास्तव में उक्त पद द्वारा कोई लाभ या धनीय अभिलाभ प्राप्त भी नहीं किया जा सकता था।

56. सदन के नेता के पद के संबंध में यह पूर्णतः स्पष्ट है कि प्रत्यर्थी ने राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए अपने नामनिर्देशन पत्र फाइल करने से पहले अपना त्यागपत्र दे दिया था। इस संविवाद का अंत कि प्रत्यर्थी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और उसकी केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति की सदस्यता से अभिकथित रूप से तारीख 25 जून, 2012 को त्यागपत्र दिया था, श्री प्रदीप गुप्ता द्वारा, जो कि भारत के राष्ट्रपति के निजी सचिव हैं, फाइल किए गए शपथपत्र द्वारा कर दिया गया था। श्री गुप्ता ने उक्त शपथपत्र में यह उपदर्शित किया है कि उसने केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति द्वारा श्री मुखर्जी को राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए उसका नामनिर्देशन स्वीकार किए जाने पर उसे विदाई देने के लिए आयोजित की गई बैठक की तारीख अनवधानतावश 25 जून, 2012 दी थी। तथापि, सदन के नेता का पद धारण करने के कारण अनुध्यात निरर्हता, सदन में दल के नेता की हैसियत होने के अलावा, जो कि सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करना नहीं है, संविधान के अनुच्छेद 102(1)(क) के उपबंधों के संबंध में थी। बहरहाल, चूंकि प्रत्यर्थी ने अपने नामनिर्देशन पत्र फाइल करने के पूर्व उक्त पद से त्यागपत्र दे दिया था, जिस पर सदन के अध्यक्ष द्वारा सम्यक् रूप से कार्यवाही कर दी गई थी, इसलिए अर्जीदार द्वारा भारत के राष्ट्रपति के रूप में प्रत्यर्थी के निर्वाचन को उक्त आधार पर दी गई चुनौती की सुसंगतता समाप्त हो गई है। तथापि, 2006 में यथा-संशोधित संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 के उपबंधों द्वारा संस्थान के अध्यक्ष के पद को संसद् का सदस्य बनने संबंधी

निरर्हता से अपवर्जित कर दिया गया था ।

57. संविधान के अनुच्छेद 58 के खंड (2) के स्पष्टीकरण में यथा-उल्लिखित सांविधानिक स्कीम से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि उक्त अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिए कोई व्यक्ति अन्य बातों के साथ-साथ केवल इस कारण कोई लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का या किसी राज्य का मंत्री है । संविधान के अनुच्छेद 102 में समरूप उपबंध अंतर्विष्ट हैं जिसके खंड (1) के स्पष्टीकरण में इसी प्रकार उपदर्शित किया गया है कि उक्त खंड के प्रयोजनों के लिए, कोई व्यक्ति केवल इस कारण भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का या ऐसे राज्य का मंत्री है । इस तर्क में कि संविधान के अनुच्छेद 102 तथा अनुच्छेद 58 के उपर्युक्त उपबंध राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित किसी व्यक्ति को तब निरर्हित होने से व्यावृत्त नहीं कर सकते यदि वह लाभ का पद धारण करता है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कोई बल नहीं है कि, जैसा कि अभिलेख पर विद्यमान सामग्री से प्रकट होता है, प्रत्यर्थी राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए अपने नामनिर्देशन पत्र फाइल करने के समय सरकार के अधीन या अन्यथा कोई लाभ का पद धारण नहीं किए हुए था ।

58. पक्षकारों की ओर से अपनी-अपनी दलीलों के समर्थन में उद्धृत विभिन्न विनिश्चयों से स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित होता है कि लाभ का पद होने के लिए उस पद के साथ विभिन्न धनीय फायदे अवश्य जुड़े होने चाहिए या वह पद धनीय फायदे पहुंचाने में समर्थ होना चाहिए जैसे शासकीय वास-सुविधा या चालक सहित कार उपलब्ध कराना, जो कि भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष के पद की बाबत नहीं है और जो वास्तव में श्री जेठमलानी द्वारा दी गई दलीलों का केन्द्र-बिन्दु और मुख्य प्रयोजन है ।

59. हम श्री जेठमलानी की इस दलील को भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं कि जब किसी व्यक्ति को भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त कर दिया जाता है तो सोसायटी के नियम और उप-विधियां उसे उस पद से त्यागपत्र देने की अनुज्ञा नहीं देतीं और यह कि उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध उस पद पर बने रहना पड़ता है । ऐसी कोई संविदात्मक बाध्यता नहीं है कि अध्यक्ष को, एक बार नियुक्त कर दिए जाने पर संपूर्ण कार्यकाल के लिए उसी पद पर बने रहना होगा । सोसायटी के नियमों और उप-विधियों में भी ऐसी कोई बाध्यता नहीं है ।

बहरहाल, चूंकि संस्थान के अध्यक्ष के पद के धारक को संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 की धारा 3 में 2006 में किए गए संशोधन द्वारा राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने संबंधी निरर्हता से अपवर्जित कर दिया गया है इसलिए इस संबंध में श्री जेठमलानी द्वारा दी गई दलीलों में कतई या कोई सार नहीं है।

60. हम इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं कि मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए निर्वाचन अर्जी उच्चतम न्यायालय नियमों के आदेश 39 के नियम 20 के अधीन यथा-अनुध्यात पूर्ण और नियमित सुनवाई किए जाने योग्य है। परिणामस्वरूप, निर्वाचन अर्जी के विचारण के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 141 के लागू होने के संबंध में श्री जेठमलानी द्वारा दी गई दलीलों का कोई महत्व नहीं है। हम इस बात को भी स्वीकार नहीं करते हैं कि राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 के भाग 2, जिसमें पूर्वोक्त अधिनियम की धारा 14 से धारा 20 भी है और भारत के संविधान के अनुच्छेद 71 के साथ पठित उच्चतम न्यायालय नियमों के आदेश 39 के अधीन की गई कार्यवाही में, संहिता की धारा 141 को सम्मिलित करने की आवश्यकता है।

61. इस प्रक्रम पर यह उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा कि इस न्यायालय ने बार-बार यह चेतावनी दी है कि किसी ऐसे अभ्यर्थी के निर्वाचन में, जो निर्वाचन में विजयी हुआ है, जब तक कि परिस्थितियां ऐसी अपेक्षा न करें, सामान्यतया हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए।

62. अतः, हम निर्वाचन अर्जी को नियमित सुनवाई के लिए रखने के लिए तैयार नहीं हैं और उसे उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 के नियम 13 के अधीन खारिज करते हैं।

63. मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों में पक्षकार इन कार्यवाहियों में के अपने-अपने खर्चे स्वयं वहन करेंगे।

न्या. रंजन गोगोई –

64. मुझे भारत के विद्वान मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा व्यक्त की गई राय का अवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सादर, मैं उक्त राय में व्यक्त किए गए विचारों से सहमत नहीं हूँ। मैंने अपने निष्कर्षों के कारणों को नीचे उपदर्शित किया है।

65. इस प्रक्रम पर एक संक्षिप्त प्रश्न, जो निर्वाचन अर्जी में अवधारण

के लिए उद्भूत हुआ है वह यह है कि यह उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के आदेश 39 के नियम 20 के अधीन नियमित सुनवाई के योग्य है अथवा नहीं ।

66. प्रश्नगत निर्वाचन अर्जी, भारत के राष्ट्रपति के पद के लिए (जिसे इसमें इसके पश्चात् “राष्ट्रपति” कहा गया है) प्रत्यर्थी के निर्वाचन को चुनौती देते हुए फाइल की गई है । वह निर्वाचन, जिसमें अर्जीदार और प्रत्यर्थी निर्वाचन लड़ने वाले अभ्यर्थी थे, निम्नलिखित कार्यक्रम के अनुसार आयोजित किया गया था :

निर्वाचन कराने संबंधी अधिसूचना जारी करने की तारीख	16 जून, 2012
नामनिर्देशन पत्र भरने की अंतिम तारीख	30 जून, 2012
संवीक्षा की तारीख	2 जुलाई, 2012
नाम वापस लेने की अंतिम तारीख	4 जुलाई, 2012
मतदान की तारीख, यदि आवश्यक हो	19 जुलाई, 2012
मतगणना की तारीख, यदि आवश्यक हो	22 जुलाई, 2012

67. निर्वाचन अर्जीदार और प्रत्यर्थी, दोनों ने ही तारीख 28 जून, 2012 को रिटर्निंग आफिसर के समक्ष अपने नामनिर्देशन पत्र फाइल किए थे । 84 व्यक्तियों द्वारा फाइल किए गए कुल 106 नामनिर्देशन पत्रों की नियत तारीख, अर्थात् 2 जुलाई, 2012 को संवीक्षा की गई थी । अर्जीदार ने प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी कि प्रत्यर्थी उक्त तारीख, अर्थात् 2 जुलाई, 2012 को भारतीय सांख्यिकी संस्थान परिषद्, कोलकाता के अध्यक्ष का पद (जिसे इसमें इसके पश्चात् ‘अध्यक्ष, आई. एस. आई.’ कहा गया है) धारण किए हुआ था, जो कि एक लाभ का पद है । अर्जीदार के अनुसार, प्रत्यर्थी के प्रतिनिधि के अनुरोध पर, प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन की संवीक्षा, अगले दिन, अर्थात् 3 जुलाई, 2012, अपराह्न 3.00 बजे तक के लिए आस्थगित कर दी गई थी और उसे अपराह्न 2.00 बजे तक प्रत्युत्तर, यदि कोई हो, फाइल करने का समय दिया गया । प्रसंगवश, निर्वाचन अर्जीदार के नामनिर्देशन के प्रति कतिपय आक्षेप उठाए जाने पर, उस पर विचार किए जाने की कार्रवाई तारीख 3 जुलाई, 2012, पूर्वाह्न 11 बजे तक के लिए आस्थगित कर दी गई थी ।

शेष सभी नामनिर्देशन पत्र संवीक्षा के लिए नियत तारीख, अर्थात् 2 जुलाई, 2012 को नामंजूर कर दिए गए थे ।

68. अगली तारीख, अर्थात् 3 जुलाई, 2012 को नियत समय, अर्थात् पूर्वाह्न 11 बजे निर्वाचन अर्जीदार के नामनिर्देशन पत्रों की संवीक्षा की गई थी और रिटर्निंग आफिसर द्वारा उन्हें स्वीकार कर लिया गया था । तत्पश्चात् पूर्ववर्ती तारीख को प्रदत्त समय अर्थात् अपराह्न 2.00 बजे के भीतर प्रत्यर्थी ने, अर्जीदार द्वारा उठाए गए आक्षेपों के प्रति एक लिखित उत्तर, तारीख 20 जून, 2012 के, जिस तारीख को प्रत्यर्थी ने अध्यक्ष, आई. एस. आई. के पद से त्यागपत्र देने का दावा किया है, त्यागपत्र की प्रति के साथ, प्रस्तुत किया । प्रत्यर्थी के नामनिर्देशन पत्रों की संवीक्षा तारीख 3 जुलाई, 2012 को अपराह्न 3.00 बजे की गई थी और तत्पश्चात् रिटर्निंग आफिसर द्वारा उन्हें स्वीकार कर लिया गया था ।

69. निर्वाचन आयोग द्वारा प्रकाशित निर्वाचन कार्यक्रम के अनुसार तारीख 19 जुलाई, 2012 को मतदान हुआ और तारीख 22 जुलाई, 2012 को मतगणना परिणाम घोषित किया गया था, जिसमें प्रत्यर्थी को भारत के राष्ट्रपति के पद पर सम्यक् रूप से निर्वाचित घोषित किया गया था ।

70. यह दलील देते हुए कि सभी सुसंगत तारीखों को, जिनके अंतर्गत संवीक्षा की तारीख अर्थात् 2 जुलाई, 2012 भी है, प्रत्यर्थी भारतीय सांख्यिकी संस्थान परिषद्, कोलकाता के अध्यक्ष का पद और सदन (लोक सभा) के नेता का पद तथा लोक सभा में कांग्रेस पार्टी के नेता का पद, जो लाभ के पद हैं, धारण किए हुए था, वर्तमान निर्वाचन अर्जी इस आधार पर फाइल की गई है कि लाभ के पूर्वोक्त पद धारण करने के आधार पर प्रत्यर्थी, भारत के राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन हेतु अभ्यर्थी होने के लिए अर्हित नहीं था और यह कि रिटर्निंग आफिसर ने प्रत्यर्थी द्वारा प्रस्तुत नामनिर्देशन को गलत रूप से स्वीकार किया था । निर्वाचन अर्जीदार के अनुसार, प्रत्यर्थी का निर्वाचन उक्त आधार पर शून्य घोषित किए जाने योग्य है । निर्वाचन अर्जीदार द्वारा फाइल की गई निर्वाचन अर्जी में और उस संक्षिप्त प्रत्युत्तर में, जो अभिलेख पर लाया गया है, प्रत्यर्थी के इस दावे को कि उसने तारीख 20 जून, 2012 को अध्यक्ष, आई. एस. आई. के पद से त्यागपत्र दे दिया था, आक्षेपित किया गया है । अर्जीदार के अनुसार तारीख 20 जून, 2012 का त्यागपत्र कूटरचित और गढ़ा हुआ है और उसे निर्वाचन अर्जीदार द्वारा किए गए पक्षकथन का प्रतिकार करने के लिए बाद में अस्तित्व में लाया गया है । जहां तक अन्य पदों का संबंध है,

निर्वाचन अर्जीदार के अनुसार, यद्यपि प्रत्यर्थी ने तारीख 26 जून, 2012 को संघ मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया था, तथापि, वह तारीख 25 जुलाई, 2012 तक अर्थात् भारत के राष्ट्रपति के रूप में पद ग्रहण करने की तारीख तक संसद् सदस्य और लोक सभा में कांग्रेस विधायिका दल का नेता बना रहा था। प्रत्यर्थी को, वस्तुतः लोक सभा की शासकीय वेबसाइट पर तारीख 2 जुलाई, 2012 तक संसद् सदस्य और सदन के नेता के रूप में दिखाया गया था।

71. प्रत्यर्थी अर्थात् निर्वाचित अभ्यर्थी ने प्रारंभिक सुनवाई के प्रयोजनों के लिए एक संक्षिप्त प्रत्युत्तर फाइल किया है। प्रत्यर्थी के अनुसार अध्यक्ष, आई. एस. आई. का पद लाभ का पद नहीं है, क्योंकि इससे कोई उपलब्धियां, पारिश्रमिक या परिलब्धियां जुड़ी हुई नहीं हैं। प्रत्यर्थी के अनुसार, बहरहाल उसने तारीख 20 जून, 2012 को उक्त पद से अपना त्यागपत्र दे दिया था, जिसे संस्थान के प्रधान द्वारा उसी दिन स्वीकार कर लिया गया था। जहां तक दो अन्य पदों का संबंध है, प्रत्यर्थी का पक्षकथन यह है कि वह उक्त पद संघ के मंत्रिमंडल के सदस्य होने के आधार पर धारण किए हुए था। प्रत्यर्थी के अनुसार, संसद् में मान्यताप्राप्त दलों और समूहों के नेता और मुख्य सचेतक (प्रसुविधाएं) अधिनियम, 1998 और उसके अधीन विरचित नियमों के अधीन पूर्वोक्त पदों से कोई उपलब्धियां या परिलब्धियां अथवा फायदे जुड़े हुए नहीं हैं, उनके सिवाय, जो संघ के मंत्रिमंडल के सदस्य के पद से जुड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त, प्रत्यर्थी के अनुसार, उसने तारीख 20 जून, 2012 को कांग्रेस दल से और लोक सभा में विधायिका दल के नेता के पद से तथा तारीख 26 जून, 2012 को संघ के मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया था। अतः, वह सुसंगत तारीख अर्थात् उसके नामनिर्देशन की संवीक्षा और उसे स्वीकार किए जाने की तारीख को लाभ का कोई पद धारण नहीं किए हुए था।

72. संविधान का अनुच्छेद 71, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित या संसक्त विषयों के बारे में उपबंध करता है। अनुच्छेद 71 के खंड (1) में उपबंधित है कि राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संसक्त सभी शंकाओं और विवादों की जांच और उनका विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा। खंड (3) के अधीन, संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित या संसक्त किसी विषय का विनियमन करने के लिए संसद् को विधियां बनाने के लिए सशक्त किया गया है।

73. संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 72 के साथ पठित अनुच्छेद 71 (3) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए संसद् ने राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 (1952 का 31) विरचित किया है। पूर्वोक्त अधिनियम के भाग 3 में निर्वाचन संबंधी विवादों के संबंध में उपबंध किए गए हैं। धारा 14(1) में यह उपबंधित है कि कोई भी निर्वाचन उपधारा (2) में विनिर्दिष्ट प्राधिकरण, अर्थात् उच्चतम न्यायालय को पेश की गई निर्वाचन अर्जी द्वारा ही प्रश्नगत किया जाएगा, अन्यथा नहीं। धारा 14(3) में यह उपबंधित है कि हर निर्वाचन अर्जी अधिनियम के भाग 3 और ऐसे नियमों में, जो उच्चतम न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 145 के अधीन बनाए जाएं, अंतर्विष्ट उपबंधों के अनुसार पेश की जाएगी। अधिनियम का अगला उपबंध, जिस पर विनिर्दिष्ट रूप से अवेक्षा की जानी अपेक्षित है, धारा 15 है, जिसमें यह उपबंधित है कि संविधान के अनुच्छेद 145 के अधीन उच्चतम न्यायालय द्वारा बनाए गए नियम, निर्वाचन अर्जियों के प्ररूप का, उस रीति का, जिसमें उन्हें पेश किया जाना है, उन व्यक्तियों का, जो इसके पक्षकार बनाए जाने हैं, उसके संबंध में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का और उन परिस्थितियों का, जिनमें अर्जियों का शमन हो सकेगा या जिनमें वे वापस ली जा सकेंगी और जिनमें नए अर्जीदार प्रतिस्थापित किए जा सकेंगे, विनियमन कर सकेंगे और खर्च के लिए प्रतिभूति दिए जाने की अपेक्षा कर सकेंगे। पूर्वोक्त अधिनियम के शेष उपबंधों का, जहां तक वर्तमान मामले का संबंध है, कोई उल्लेख करना आवश्यक नहीं है।

74. संविधान के अनुच्छेद 145 द्वारा प्रदत्त शक्तियों के आधार पर, उच्चतम न्यायालय द्वारा न्यायालय की पद्धति और प्रक्रिया को विनियमित करने के लिए भारत के राष्ट्रपति के अनुमोदन से उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् 'नियम' कहा गया है) विरचित किए गए हैं। उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के भाग 7 में अंतर्विष्ट आदेश 39, राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 के भाग 3 के अधीन फाइल की गई निर्वाचन अर्जियों के बारे में है। आदेश 39 के नियम 13 (तारीख 20 दिसंबर, 1997 से अंतःस्थापित), नियम 20 और नियम 34 के उपबंधों को, जो इससे सुसंगत हैं, नीचे उद्धृत किया गया है :-

“13. कोई अर्जी पेश किए जाने पर उसे प्रारंभिक सुनवाई के लिए और अर्जी की तामील संबंधी आदेशों के लिए और उसके ऐसे

विज्ञापन के लिए, जो न्यायालय उचित समझे तथा अर्जी की सुनवाई के लिए समय नियत करने के लिए न्यायालय के पांच न्यायाधीशों से मिलकर बनी एक न्यायपीठ के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा। प्रारंभिक सुनवाई किए जाने पर, यदि न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि वह अर्जी इस आदेश के नियम 20 में यथा अनुध्यात नियमित सुनवाई किए जाने योग्य नहीं है तो वह उस अर्जी को खारिज कर सकेगा या ऐसा कोई समुचित आदेश पारित कर सकेगा, जो वह ठीक समझे।

* * * *

20. किसी निर्वाचन को प्रश्नगत करने वाली प्रत्येक अर्जी न्यायालय के कम से कम पांच न्यायाधीशों की एक न्यायपीठ के समक्ष प्रस्तुत की जाएगी और उसके द्वारा उसकी सुनवाई और उसका निपटारा किया जाएगा।

* * * *

34. इस आदेश या न्यायालय के किसी विशेष आदेश के उपबंधों या निदेशों के अधीन रहते हुए किसी निर्वाचन अर्जी में की प्रक्रिया में यथासंभव निकटतम रूप में न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता के प्रयोग में उसके समक्ष की कार्यवाहियों में की प्रक्रिया का अनुसरण किया जाएगा।*

75. उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 का नियम 13 भी, जो विद्यमान नियम 13 के 20 दिसंबर, 1997 से अंतःस्थापन से पूर्व विद्यमान था, नियम 13 द्वारा अनुध्यात 'प्रारंभिक सुनवाई' की यथार्थ परिधि के प्रभावी अवधारण हेतु यहां नीचे उद्धृत किया जा सकता है :-

* "13. अर्जी पेश किए जाने पर, ऐसा चैंबर न्यायाधीश या रजिस्ट्रार, जिसके समक्ष उसे पेश किया जाता है, अर्जी की तामील के लिए और उसके विज्ञापन के लिए ऐसे निदेश दे सकेगा, जो वह उचित समझे और अर्जी की सुनवाई के लिए समय भी नियत कर सकेगा।"

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :-

"13. Upon the presentation of the petition, the Judge in Chambers, or the Registrar, before whom, it is presented, may give such directions for service of the petition and advertisement thereof as he thinks proper and also appoint a time for the hearing of the petition."

76. इस प्रश्न का अवधारण करने के लिए कि कोई निर्वाचन अर्जी नियम 20 के अधीन नियमित सुनवाई किए जाने योग्य है या नहीं, वर्तमान रूप में नियम 13 के 20 दिसंबर, 1997 से अंतःस्थापन किए जाने तक उच्चतम न्यायालय नियमों में प्रारंभिक सुनवाई के लिए कोई उपबंध नहीं किया गया था। आदेश 39 के नियम 34 में यह उपबंधित है कि किसी निर्वाचन अर्जी में की प्रक्रिया में यथासंभव निकटतम रूप में उच्चतम न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता के प्रयोग में उसके समक्ष की कार्यवाहियों में की प्रक्रिया का अनुसरण किया जाएगा। उच्चतम न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता के प्रयोग में की कार्यवाहियों को लागू प्रक्रिया उच्चतम न्यायालय नियमों के भाग 3 के आदेश 23 में अंतर्विष्ट हैं। आदेश 23 के नियम 1 में वादपत्र द्वारा कोई वाद संस्थित किए जाने के बारे में अनुध्यात है। आदेश 23 के नियम 6 में उपबंधित है कि किसी विधिमान्य वादपत्र की अपेक्षाओं पर विचार करने के पश्चात् किसी वादपत्र को उस दशा में नामंजूर कर दिया जाएगा :-

(क) जहां उसमें कोई वाद हेतुक प्रकट नहीं किया गया है ;

(ख) जहां वादपत्र के कथन से यह प्रतीत होता है कि वाद किसी विधि द्वारा वर्जित है।

77. प्रकथनों को पूरा करने के लिए यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि नियमों के भाग 3 के अन्य उपबंध ऐसी प्रक्रिया के बारे में हैं जो आदेश 23 के नियम 1 के अधीन फाइल किए गए किसी वाद का निपटारा करने के लिए लागू होगी और उसमें, अन्य बातों के साथ-साथ, निम्नलिखित के लिए उपबंध किया गया है :-

(क) समनों का जारी किया जाना और उनकी तामील (आदेश 24) ;

(ख) लिखित कथन में के दावे और प्रतिदावे (आदेश 25) ;

(ग) प्रकटीकरण और निरीक्षण (आदेश 27) ;

(घ) साक्षियों को समन किया जाना और उनकी हाजिरी (आदेश 29);

(ङ) वाद की सुनवाई (आदेश 31)।

78. आदेश 23 का नियम 6, जिसकी ऊपर अवेक्षा की गई है, नियम 13, जो मूल रूप से विद्यमान था, के साथ नियमों का भाग था। अन्य

शब्दों में, प्रारंभिक सुनवाई का उपबंध किए जाने संबंधी नए नियम 13 का अंतःस्थापन, आदेश 23 के नियम 6 के उपबंधों की विद्यमानता और आदेश 23 के नियम 6 में उल्लिखित दोनों आधारों पर किसी वाद को नामंजूर करने और वाद (जिसके अंतर्गत निर्वाचन अर्जी भी है) को खारिज करने की शक्ति की उपलब्धता के होते हुए भी किया गया था। अतः आदेश 39, नियम 13 के अधीन प्रारंभिक सुनवाई में न्यायालय से किसी विशिष्ट कानूनी अधिनियमिति को ध्यान में रखते हुए निर्वाचन अर्जी में किए अभिवचनों या उसकी संघार्यता के प्रश्न पर केवल वाद हेतुक के प्रकटन या अप्रकटन के तथ्य पर विचार करने के अतिरिक्त कुछ और बातों पर भी विचार करने की अपेक्षा होगी। ऐसी अतिरिक्त जांच, जिसमें स्पष्ट रूप से ऐसे विषयों को अपवर्जित किया जाना चाहिए, जो नियम 20 के अधीन नियमित सुनवाई के अधिकार क्षेत्र में आते हैं, की अपेक्षा आदेश 39 के नियम 13 के अधीन प्रारंभिक सुनवाई में की जाएगी। ऐसी जांच के दौरान न्यायालय को अपना यह समाधान कर लेना चाहिए कि यद्यपि निर्वाचन अर्जी में ऐसे किसी स्पष्ट वाद हेतुक का प्रकटन किया गया है और विचारणीय विवादक(कों) को उठाया गया है, तथापि, उठाए गए विवादकों का विचारण वहां तक आवश्यक या न्यायोचित नहीं होगा, जहां तक यदि उन संपूर्ण तथ्यों पर, जिनका अर्जीदार ने अवलंब लिया है, साबित मान लिया जाए, तो भी निर्वाचन के परिणाम में कोई हस्तक्षेप करने की गुंजाइश नहीं होगी। केवल ऐसी स्थिति में ही निर्वाचन अर्जी में प्रारंभिक सुनवाई की बाधा को पार करने की अनुज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। यदि ऐसा समाधान नहीं हो सकता है तो नियमों के भाग 3 के उपबंधों के अनुसार आदेश 39 के नियम 20 के अधीन निर्वाचन अर्जी की नियमित सुनवाई प्रारंभ करने के लिए मंजूर किया जाना चाहिए। मेरी राय में नियमों के आदेश 39 के नियम 13 के अधीन प्रारंभिक सुनवाई का क्षेत्र और प्रविषय उपर्युक्त ही है और पक्षकारों द्वारा उठाए गए प्रश्नों का उत्तर इस प्रक्रम पर, पूर्वोक्त प्रतिरोधों के भीतर ही दिया जाना चाहिए।

79. सर्वप्रथम, सदन के नेता और कांग्रेस दल के नेता के पद से संबंधित विवादक पर विचार किया जाए। संसद् में मान्यताप्राप्त दलों तथा समूहों के नेता तथा मुख्य सचेतक (प्रसुविधाएं) अधिनियम, 1998 और उसके अधीन विरचित नियमों के उपबंधों के अधीन सदन के नेता या सदन में विधायिका दल के नेता के लिए, यदि वह संघ का कोई मंत्री है (वर्तमान मामले में प्रत्यर्थी संघ मंत्रिमंडल का सदस्य था) तो ऐसे किसी पद के

धारक को संदेय सम्बलम् और परिलब्धियों के अतिरिक्त, कोई पारिश्रमिक अनुध्यात नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त, इन दोनों पदों में से कोई भी पद अनुच्छेद 58(2) के अधीन यथापेक्षित भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन नहीं है जिससे किसी ऐसे पद के धारक के प्रति उसके अधीन अनुध्यात निरर्हता उपगत हो सके। प्रश्नगत दोनों ही पद लोक सभा से संबंधित पद हैं। उसका कोई पदधारी, यथास्थिति, या तो निर्वाचित हुआ होना चाहिए या सदन में उसकी सदस्यता या मंत्रिमंडल के सदस्य के रूप में उसकी स्थिति के आधार पर नामनिर्दिष्ट किया गया होना चाहिए। अतः, जहां तक पूर्वोक्त पदों का संबंध है, निर्वाचन अर्जी में, नियमों के आदेश 39 के नियम 20 के अधीन विस्तृत सुनवाई के लिए किसी विचारणीय विवाद्यक को प्रकट नहीं किया है।

80. अगला प्रश्न भारतीय सांख्यिकी संस्थान परिषद्, कोलकाता के अध्यक्ष के पद के संबंध में है। क्या उक्त पद के साथ कोई पारिश्रमिक और/या परिलब्धियां जुड़ी हुई हैं या क्या वह संघ की सरकार के नियंत्रणाधीन है और यह प्रश्न भी कि क्या प्रत्यर्थी ने 20 जून, 2012 को उक्त पद से त्यागपत्र दे दिया था, सभी तथ्य संबंधी प्रश्न हैं, जो विवादग्रस्त हैं, अतः इनका समाधान ऐसे साक्ष्य के आधार पर ही किया जा सकता है, जो पक्षकारों द्वारा दिए जाएं। अतः, न्यायालय को उक्त किसी भी ऐसे विवाद्यक पर विचार उस प्रक्रम से नहीं करना होगा, जो आदेश 39, नियम 13 के अधीन वर्णित है। इसके बजाय, वर्तमान मामले में, हम इस आधार पर कि प्रश्नगत पद एक ऐसा लाभ का पद है, जो प्रत्यर्थी सुसंगत तारीख को धारण किए हुए था (तथापि, ऐसे तथ्य नियमित सुनवाई के दौरान, यदि ऐसा अवसर उद्भूत होता है, साबित किए जाने होंगे) और उस धारणा के आधार पर यह अवधारित करने को अग्रसर हो सकते हैं कि संविधान के अनुच्छेद 58(2) के उपबंधों को देखते हुए क्या अभी भी प्रत्यर्थी का निर्वाचन इस आधार पर कि प्रत्यर्थी का नामनिर्देशन पत्र गलत ढंग से स्वीकार किया गया था, शून्य नहीं है, जैसा प्रत्यर्थी द्वारा दावा किया गया है। इस संबंध में विनिर्दिष्ट विवाद्यक, जिस पर विचार किया जाना है, यह है कि क्या अध्यक्ष, आई. एस. आई., कोलकाता के पद को यथासंशोधित संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 के उपबंधों के आधार पर किसी निरर्हता से छूट प्रदान की गई है।

81. ऊपर उपदर्शित विवाद्यक की प्रभावशाली परीक्षा के लिए संविधान

के अनुच्छेद 58, अनुच्छेद 84 और अनुच्छेद 102 के उपबंधों की विस्तृत अवेक्षा करना और उन पर विचार करना अपेक्षित होगा। अतः, उक्त उपबंधों को निम्नलिखित रूप से उद्धृत किया जाता है :-

“अनुच्छेद 58 – राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए अर्हताएं – (1)

कोई व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र तभी होगा जब वह –

- (क) भारत का नागरिक है,
- (ख) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका है, और
- (ग) लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित है।

(2) कोई व्यक्ति, जो भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है, राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र नहीं होगा।

स्पष्टीकरण – इस अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिए, कोई व्यक्ति केवल इस कारण कोई लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति या किसी राज्य का राज्यपाल [***]¹ है अथवा संघ का या किसी राज्य का मंत्री है।

अनुच्छेद 84 – संसद् की सदस्यता के लिए अर्हता – कोई व्यक्ति संसद् के किसी स्थान को भरने के लिए चुने जाने के लिए अर्हित तभी होगा जब –

[(क) वह भारत का नागरिक है और निर्वाचन आयोग द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्ररूप के अनुसार शपथ लेता है या प्रतिज्ञान करता है और उस पर अपने हस्ताक्षर करता है ;]²

(ख) वह राज्य सभा में स्थान के लिए कम से कम तीस वर्ष की आयु का और लोक सभा में स्थान के लिए कम से कम पच्चीस वर्ष की आयु का है ; और

¹ संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 की धारा 29 और अनुसूची द्वारा “या राजप्रमुख या उप-राजप्रमुख” शब्दों का लोप किया गया।

² संविधान (सोलहवां संशोधन) अधिनियम, 1963 की धारा 3 द्वारा खंड (क) के स्थान पर (5.9.1963 से) प्रतिस्थापित।

(ग) उसके पास ऐसी अन्य अर्हताएं हैं जो संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस निमित्त विहित की जाएं ।

अनुच्छेद 102 – सदस्यता के लिए निरर्हताएं – (1) कोई व्यक्ति संसद् के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के लिए और सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा –

(क) यदि वह भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन, ऐसे पद को छोड़कर, जिसको धारण करने वाले का निरर्हित न होना संसद् ने विधि द्वारा घोषित किया है, कोई लाभ का पद धारण करता है ;

(ख) यदि वह विकृतचित्त है और सक्षम न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है ;

(ग) यदि वह अनुमोचित दिवालिया है ;

(घ) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है या उसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर ली है या वह किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुशक्ति को अभिस्वीकार किए हुए है ;

(ङ) यदि वह संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस प्रकार निरर्हित कर दिया जाता है ।

[स्पष्टीकरण – इस खंड के प्रयोजनों के लिए,]¹ कोई व्यक्ति केवल उस कारण भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का या ऐसे राज्य का मंत्री है ।

[(2) कोई व्यक्ति संसद् के किसी सदन का सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा यदि वह दसवीं अनुसूची के अधीन इस प्रकार निरर्हित हो जाता है]²

82. अनुच्छेद 58(1)(ग) में यह अपेक्षित है कि राष्ट्रपतीय पद का

¹ संविधान (बावनवां संशोधन) अधिनियम, 1985 की धारा 3 द्वारा (1.3.1985 से) “(2) इस अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिए” के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

² संविधान (बावनवां संशोधन) अधिनियम, 1985 की धारा 3 द्वारा (1.3.1985 से) अंतःस्थापित ।

अभ्यर्थी लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित होना चाहिए । क्या इससे यह अभिप्रेत होता है कि जो कोई अनुच्छेद 84 के अधीन लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित है और अनुच्छेद 102 के अधीन किसी निरर्हता से ग्रस्त नहीं है, वह स्वतः ही राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने का पात्र बन जाएगा ? दूसरे शब्दों में, क्या अनुच्छेद 58, अनुच्छेद 84 और अनुच्छेद 102 के उपबंधों में कोई सामूहिक और समरूपी स्कीम परिकल्पित है ?

83. अनुच्छेद 58(1)(ख) के अधीन राष्ट्रपतीय पद के अभ्यर्थी द्वारा पैंतीस वर्ष की आयु पूरी की गई होनी चाहिए । साथ ही, अनुच्छेद 58(1)(ग) के अधीन ऐसा व्यक्ति लोक सभा का सदस्य होने के लिए अर्हित होना चाहिए । अनुच्छेद 84(ख) के अधीन किसी अभ्यर्थी को लोक सभा में निर्वाचन के लिए कम से कम पच्चीस वर्ष की आयु का होना चाहिए । दूसरे शब्दों में, लोक सभा का सदस्य होने के लिए अर्हित, किंतु पैंतीस वर्ष से कम आयु का कोई व्यक्ति राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन हेतु अभ्यर्थी होने के लिए अर्हित नहीं होगा । इसी प्रकार संसद् (जिसमें लोक सभा भी है) की सदस्यता हेतु अर्हित होने के लिए किसी अभ्यर्थी को विहित प्ररूप के अनुसार शपथ लेनी होगी या प्रतिज्ञान करना होगा । अनुच्छेद 58 द्वारा राष्ट्रपतीय अभ्यर्थी के लिए ऐसी कोई शर्त या अनुबंध को आज्ञापक नहीं बनाया गया है । जहां तक अनुच्छेद 102(1)(क) का संबंध है, यद्यपि लाभ का पद धारण करना संसद् के प्रत्येक सदन के सदस्य के रूप में निर्वाचन के लिए या उसका सदस्य होने के लिए निरर्हता है तो भी ऐसी किसी निरर्हता का संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा अभिलोपन किया जा सकता है । अनुच्छेद 58(2) के अधीन, यद्यपि ऐसी निरर्हता (लाभ का कोई पद धारण करने के आधार पर) किसी राष्ट्रपतीय अभ्यर्थी के प्रति उपगत होती है तो भी ऐसी किसी निरर्हता को दूर करने हेतु संसद् को कोई शक्ति प्रदत्त नहीं की गई है । इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 58 और अनुच्छेद 102, दोनों के स्पष्टीकरणों में ऐसे उपबंध अंतर्विष्ट हैं, जिनके आधार पर कतिपय पदों को लाभ का पद नहीं समझा जाएगा । संविधान के दोनों उपबंधों के बीच समानताएं और अंतर इतने सुस्पष्ट हैं कि उनकी अनदेखी या उपेक्षा नहीं की जा सकती है । ऐसी किसी स्थिति में, जहां अनुच्छेद 102(1)(क) संसद् को, लाभ का कोई पद धारण करने के आधार पर संसद् का सदस्य होने के लिए उपगत निरर्हता को दूर करने हेतु कोई विधि अधिनियमित करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से सशक्त करता है, वहीं अनुच्छेद 58 में ऐसे किसी उपबंध के अभाव में

किसी समेकित सांविधानिक स्कीम को समझने के लिए अनुच्छेद 58 का अनुच्छेद 102 के साथ परिशीलन संभव नहीं होगा। इस मत को ध्यान में रखते हुए कि संविधान की भाषा को उसके साधारण और सहज अभिप्राय के अनुसार पढ़ा जाना चाहिए, जिससे उसका उस रूप में अर्थान्वयन किया जा सके जिससे उसका सही विधायी आशय निकलता हो, अनुच्छेद 58 को अनुच्छेद 84 और अनुच्छेद 102 से स्वतंत्र रूप से पढ़ा जाना चाहिए और दोनों सांविधानिक उपबंधों के उद्देश्य को एक दूसरे से पृथक् रूप से समझना होगा। वास्तव में, ऐसा मत **बाबूराव पटेल** बनाम **डा. जाकिर हुसैन**¹ वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा व्यक्त पूर्वतर राय में अभिव्यक्त किया गया है, जिसे इसमें केवल दोहराया गया है।

84. उपर्युक्त विचार-विमर्श का वास्तविक परिणाम यह है कि जहां तक राष्ट्रपति पद के निर्वाचन का संबंध है, संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959, 2006 के संशोधन अधिनियम सं. 31 द्वारा यथासंशोधित, लागू नहीं होता है। लाभ का पद धारण करने के कारण राष्ट्रपतीय पद के प्रति अभ्यर्थी द्वारा उपगत निरर्हता को उक्त अधिनियम के उन उपबंधों द्वारा, जो संसद् सदस्य के रूप में चुने जाने या होने अथवा रहने के लिए निरर्हता को दूर करने के बारे में है, दूर नहीं किया जाता है। अतः यदि यह मान भी लिया जाए कि भारतीय सांख्यिकी संस्थान के अध्यक्ष का पद लाभ का कोई पद है और प्रत्यर्थी ने तात्त्विक तारीख (तारीखों) को उक्त पद धारण किया हुआ था तो भी जहां तक निर्वाचन के परिणाम का संबंध है, उसके प्रत्यर्थी के प्रति प्रतिकूल परिणाम सामने आने की संभावना है। अतः उक्त तथ्यों को निर्वाचन अर्जीदार द्वारा साबित किया जाना अपेक्षित होगा। ऐसा कोई निष्कर्ष कि वर्तमान मामले में नियमित सुनवाई करना एक व्यर्थ की कवायद या कोरी औपचारिकता होगी, नहीं निकाला जा सकता, जिससे कि उसे छोड़ दिया जाए और निर्वाचन अर्जी को आदेश 39 के नियम 13 के अधीन उसकी प्रारंभिक सुनवाई के प्रक्रम पर ही बंद कर दिया जाए। अतः उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 के भाग 3 के भिन्न-भिन्न उपबंधों में जो उपबंधित है, उसके अनुसार निर्वाचन अर्जी आदेश 39 के नियम 20 के अधीन नियमित सुनवाई योग्य है।

न्या. चेलामेश्वर :

85. मुझे भारत के माननीय मुख्य न्यायमूर्ति और अपने न्यायबंधु

¹ [1968] 2 एस. सी. आर. 133.

न्यायमूर्ति रंजन गोगोई, दोनों, के निर्णयों का परिशीलन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा अभिलिखित इस निष्कर्ष से सहमत होने में असमर्थ हूँ कि वर्तमान निर्वाचन अर्जी नियमित सुनवाई के योग्य नहीं है। मैं असहमति से संबंधित अपने कारणों को शीघ्र ही सुस्पष्ट करूँगा।

86. खेद है कि मैं माननीय मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा व्यक्त बहुमत की राय से पूरी तरह सहमत नहीं हूँ।

87. वर्तमान प्रयोजन के लिए सुसंगत अभिवाकों और निवेदनों का माननीय भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के निर्णय में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, अतः, मेरा उन्हें पुनः दोहराने का विचार नहीं है।

88. वह प्रक्रिया जिसका, निर्वाचन अर्जी में, जिसमें कि भारत के राष्ट्रपति के रूप में प्रत्यर्थी के निर्वाचन को प्रश्नगत किया गया है, अनुसरण किया जाना अपेक्षित है, संविवाद की विषय-वस्तु है। इस देश में विधि का यह चिरकालिक स्थापित सिद्धांत है कि संविधान के अधीन सृजित विभिन्न निकायों के निर्वाचनों को समुचित विधान द्वारा बनाई गई विधि के अनुसार ही, प्रश्नगत किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। अनुच्छेद 329(ख) में यह घोषित किया गया है कि “संसद् के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधान-मंडल के सदन या प्रत्येक सदन के लिए (जिसे इसमें इसके पश्चात् सामूहिक रूप से ‘विधायी निकाय’ कहा गया है) कोई निर्वाचन ऐसी निर्वाचन अर्जी पर ही प्रश्नगत किया जाएगा, जो ऐसे प्राधिकारी को और ऐसी रीति से प्रस्तुत की गई है जिसका समुचित विधान-मंडल द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन उपबंध किया जाए, अन्यथा नहीं”। अनुच्छेद 71 इस प्रकार है :-

“71. राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित या संसक्त विषय —(1) राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संसक्त सभी शंकाओं और विवादों की जांच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा और उसका विनिश्चय अंतिम होगा।

(2) यदि उच्चतम न्यायालय द्वारा किसी व्यक्ति के राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन को शून्य घोषित कर दिया जाता है तो उसके द्वारा, यथास्थिति, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय की

तारीख को या उससे पहले किए गए कार्य उस घोषणा के कारण अविधिमान्य नहीं होंगे ।

(3) इस संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित या संसक्त किसी विषय का विनियमन संसद् विधि द्वारा कर सकेगी ।

(4) राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के रूप में किसी व्यक्ति के निर्वाचन को उसे निर्वाचित करने वाले निर्वाचकगण के सदस्यों में किसी भी कारण से विद्यमान किसी रिक्ति के आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा ।”

इसी प्रकार, अनुच्छेद 71 में यह घोषित किया गया है कि राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संसक्त सभी शंकाओं और विवादों की जांच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जाएगा और उसका विनिश्चय अंतिम होगा । अनुच्छेद 71(3) में यह अनुध्यात है कि राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित या संसक्त किसी विषय का विनियमन संसद्, विधि द्वारा, कर सकेगी और ऐसा विनियमन संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए होगा । दूसरे शब्दों में, यद्यपि संविधान के अधीन विधायी निकायों से तात्पर्यित विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए मंच (न्यायालय) का अवधारण समुचित विधान-मंडल द्वारा किया जाना अपेक्षित होता है, तथापि, राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से तात्पर्यित विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए मंच संविधान द्वारा इस न्यायालय को नियत किया गया है । जबकि अन्य विभिन्न मामलों का जैसे कि वे आधार जिन पर ऐसे निर्वाचनों को चुनौती दी जा सकेगी, वह प्रक्रिया जिसका कि किसी निर्वाचन संबंधी विवाद में अनुसरण किया जाना अपेक्षित होता है, उपबंध, विधायी निकायों के सदस्यों की दशा में, समुचित विधान-मंडल द्वारा, विधि द्वारा, और राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति की दशा में - केवल संसद् द्वारा किया जाना अपेक्षित होता है । विधायी निकायों के सदस्यों से तात्पर्यित निर्वाचन संबंधी विवादों के संदर्भ में, ऐसे मामलों के लिए उपबंध करने का प्राधिकार अनुच्छेद 329, सातवीं अनुसूची की सूची 3 की प्रविष्टि 11क को देखते हुए समुचित विधान-मंडल में निहित है । इसी प्रकार, अनुच्छेद 246(1) और सातवीं अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 72 के साथ पठित अनुच्छेद 71(3) के आधार पर ऐसी शक्ति अनन्य रूप से संसद् में निहित है ।

89. ऐसी शक्ति का प्रयोग करते हुए, संसद् द्वारा राष्ट्रपतीय और

उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 (जिसे इसमें इसके पश्चात् सुगम निर्देश के लिए 'निर्वाचन अधिनियम' कहा गया है) अधिनियमित किया गया था। उक्त अधिनियम का भाग 3 निर्वाचन संबंधी विवादों के बारे में है। धारा 14 में यह घोषित किया गया है कि राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन को प्रश्नगत करने का ढंग यह है कि इस न्यायालय में निर्वाचन अर्जी पेश की जाए। धारा 14 इस प्रकार है :-

“14क. अर्जियों का पेश किया जाना – (1) निर्वाचन को प्रश्नगत करने वाली अर्जी धारा 18 की उपधारा (1) में और धारा 19 में विनिर्दिष्ट आधारों में से एक या अधिक आधारों पर ऐसे निर्वाचन के किसी अभ्यर्थी द्वारा, या –

(i) राष्ट्रपतीय निर्वाचन की दशा में, बीस या अधिक निर्वाचकों द्वारा संयुक्त अर्जीदारों के रूप में ;

(ii) उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन की दशा में, दस या अधिक निर्वाचकों द्वारा संयुक्त अर्जीदारों के रूप में,

उच्चतम न्यायालय में पेश की जा सकेगी।

(2) ऐसी कोई अर्जी उस घोषणा के, जिसमें धारा 12 के अधीन निर्वाचन में निर्वाचित अभ्यर्थी का नाम हो, प्रकाशन की तारीख के पश्चात् किसी भी समय पेश की जा सकेगी किंतु ऐसे प्रकाशन की तारीख से तीस दिनों के पश्चात् पेश नहीं की जा सकेगी।”

धारा 14क में यह विहित है कि राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन को केवल अधिनियम की धारा 18(1) और धारा 19 में विनिर्दिष्ट आधारों पर ही प्रश्नगत किया जा सकता है। इसमें उन व्यक्तियों को भी विनिर्दिष्ट किया गया है जो ऐसे किसी प्रश्न को उठाने के लिए प्राधिकृत हैं। इसमें प्रश्न उठाने का अधिकार केवल दो प्रवर्गों के लोगों तक सीमित किया गया है – (1) ऐसे निर्वाचन में के अभ्यर्थी ; (2) राष्ट्रपति की दशा में बीस या अधिक निर्वाचक और उपराष्ट्रपति की दशा में दस या अधिक निर्वाचक। उक्त धारा में ऐसी कोई निर्वाचन अर्जी पेश करने के लिए तीस दिन की परिसीमा नियत की गई है जिसकी गणना उसकी धारा 12 के अधीन अनुध्यात घोषणा के प्रकाशन की तारीख से की जाएगी। यद्यपि धारा 16 में उन अनुतोषों को नियत किया गया है जिनका कि किसी निर्वाचन अर्जी में दावा किया जा सकता है, तथापि, धारा 15 में निम्नलिखित उपबंध किया गया है :-

“15. अर्जियों के प्ररूप, इत्यादि और प्रक्रिया – इस भाग के उपबंधों के अध्यक्षीन रहते हुए यह है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 145 के अधीन बनाए गए नियम [चाहे वे राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन (संशोधन) अधिनियम, 1977 के प्रारंभ के पूर्व या पश्चात् बनाए गए हों] निर्वाचन अर्जियों के प्ररूप का, उस रीति का, जिसमें उन्हें पेश किया जाना है, उन व्यक्तियों का, जो इसके पक्षकार बनाए जाने हैं, उससे संबंधित अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का और उन परिस्थितियों का विनियमन कर सकेंगे जिनमें अर्जियों का शमन हो जाएगा या जिनमें वे वापस ली जा सकेंगी और जिनमें नए अर्जीदार प्रतिस्थापित किए जा सकेंगे और वे खर्च के लिए प्रतिभूति दिए जाने की अपेक्षा कर सकेंगे।”

धारा 15 से यह विदित होता है कि संसद् का तात्पर्य इस न्यायालय को निर्वाचन अर्जियों के विभिन्न पहलुओं से जैसे कि (1) उस रीति से, जिसमें अर्जियों को पेश किया जाना होगा ; (2) उन व्यक्तियों से, जिन्हें इनमें पक्षकार बनाया जाना अपेक्षित है; (3) उस प्रक्रिया से, जिसे निर्वाचन अर्जियों के संचालन में अपनाया जाएगा ; (4) उन परिस्थितियों से, जिनमें अर्जियों का शमन हो जाएगा या जिनमें उन्हें वापस लिया जा सकेगा ; और उन परिस्थितियों से, जिनमें अर्जीदार प्रतिस्थापित किए जा सकेंगे और वे खर्चों के लिए प्रतिभूति दिए जाने की अपेक्षा कर सकेंगे, संबंधित नियम बनाए जाने के लिए प्राधिकृत करने का है। इसी प्रकार, विधायी निकायों में से किसी एक निकाय के किसी सदस्य के निर्वाचन को प्रश्नगत करने वाली निर्वाचन अर्जी के संदर्भ में ऐसी प्रक्रिया का संसद् द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के अधीन बहुत ही सावधानीपूर्वक उपबंध किया गया है।

90. निर्वाचन अधिनियम की धारा 14(2) और धारा 15, दोनों ही, जहां तक उनका तात्पर्य राष्ट्रपति के निर्वाचन से तात्पर्यित विवादों के न्यायनिर्णयन के संबंध में इस न्यायालय में क्रमशः अधिकारिता निहित करने और उसे नियम बनाने के लिए प्राधिकृत करने का है, मेरी राय में अतिरेक (अनावश्यक) है क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 71 और अनुच्छेद 145 में पहले ही इस संबंध में अभिव्यक्त रूप से उपबंध किया हुआ है।

91. संविधान के भाग 5 के अध्याय 4 में इस न्यायालय की स्थापना, अधिकारिता आदि के संबंध में उपबंध किया गया है। इस न्यायालय की

आरंभिक अधिकारिता संविधान के अनुच्छेद 131 और अनुच्छेद 32 से उद्भूत होती है। उक्त भाग में आने वाले विभिन्न अन्य अनुच्छेदों द्वारा इस न्यायालय में सिविल और दांडिक, दोनों, अपीली अधिकारिता निहित की गई है। संविधान का अनुच्छेद 138 निम्न प्रकार है :-

“138. उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता की वृद्धि – (1)

उच्चतम न्यायालय को संघ सूची के विषयों में से किसी के संबंध में ऐसी अतिरिक्त अधिकारिता और शक्तियां होंगी जो संसद् विधि द्वारा प्रदान करे।

(2) यदि संसद् विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय द्वारा ऐसी अधिकारिता और शक्तियों के प्रयोग का उपबंध करती है तो उच्चतम न्यायालय को किसी विषय के संबंध में ऐसी अतिरिक्त अधिकारिता और शक्तियां होंगी जो भारत सरकार और किसी राज्य की सरकार विशेष करार द्वारा प्रदान करे।”

संविधान के अनुच्छेद 138 के अधीन संसद् को उच्चतम न्यायालय में अतिरिक्त अधिकारिता, विधि द्वारा, निहित करने के लिए प्राधिकृत किया गया है। ऐसी अधिकारिता आरंभिक या अपीली हो सकेगी। यह स्वयं सिद्ध है कि विधान-मंडल (इस मामले के संदर्भ में संसद्) को अधिकारिता सृजित करने के प्राधिकार की परिधि के अंतर्गत उन विभिन्न मामलों को विहित करने का प्राधिकार भी आता है जो उस अधिकारिता के आवश्यक अनुबंध हों जैसे कि अधिकारिता - धनीय, राज्यक्षेत्रीय आदि की सीमाएं; ऐसी अधिकारिता के प्रयोग में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया आदि।

92. चूंकि संविधान द्वारा ही इस न्यायालय में विभिन्न शीर्षों के अधीन अधिकारिता निहित की गई है और संसद् को अतिरिक्त अधिकारिता का, विधि द्वारा सृजन किए जाने/इस न्यायालय में निहित किए जाने के लिए भी प्राधिकृत किया गया है, अतः संविधान के अधीन इस न्यायालय द्वारा ऐसी अधिकारिता के प्रयोग में, चाहे उस अधिकारिता का स्रोत कुछ भी हो, अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया को विनियमित करने की जरूरत को स्वीकार किया गया है। अतः अनुच्छेद 145 को सम्मिलित किया गया है। अनुच्छेद 145 में यह परिगृहीत किया गया है कि संसद्, विधि द्वारा, ऐसी प्रक्रिया नियत कर सकेगी और ऐसी किसी विधि के न होने पर यह न्यायालय भारत के राष्ट्रपति के अनुमोदन से प्रक्रिया विहित कर सकेगा।

93. संविधान का अनुच्छेद 145 इस प्रकार है :-

“145. न्यायालय के नियम आदि – (1) संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए, उच्चतम न्यायालय समय-समय पर, राष्ट्रपति के अनुमोदन से न्यायालय की पद्धति और प्रक्रिया के, साधारणतया, विनियमन के लिए नियम बना सकेगा जिसके अंतर्गत निम्नलिखित भी हैं, अर्थात् :-

(क) उस न्यायालय में विधि-व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों के बारे में नियम ;

(ख) अपीलें सुनने के लिए प्रक्रिया के बारे में और अपीलों संबंधी अन्य विषयों के बारे में, जिनके अंतर्गत वह समय भी है जिसके भीतर अपीलें उस न्यायालय में ग्रहण की जानी हैं, नियम ;

(ग) भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी का प्रवर्तन कराने के लिए उस न्यायालय में कार्यवाहियों के बारे में नियम ;

(गग) अनुच्छेद 139क के अधीन उस न्यायालय में कार्यवाहियों के बारे में नियम ;

(घ) अनुच्छेद 134 के खंड (1) के उपखंड (ग) के अधीन अपीलों को ग्रहण किए जाने के बारे में नियम ;

(ङ) उस न्यायालय द्वारा सुनाए गए किसी निर्णय या किए गए आदेश का जिन शर्तों के अधीन रहते हुए पुनर्विलोकन किया जा सकेगा उनके बारे में और ऐसे पुनर्विलोकन के लिए प्रक्रिया के बारे में, जिसके अंतर्गत वह समय भी है जिसके भीतर ऐसे पुनर्विलोकन के लिए आवेदन उस न्यायालय में ग्रहण किए जाने हैं, नियम ;

(च) उस न्यायालय में किन्हीं कार्यवाहियों के और उनके आनुषंगिक खर्च के बारे में, तथा उसमें कार्यवाहियों के संबंध में प्रभाषित की जाने वाली फीसों के बारे में नियम ;

(छ) जमानत मंजूर करने के बारे में नियम ;

(ज) कार्यवाहियों को रोकने के बारे में नियम ;

(झ) जिस अपील के बारे में उस न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि वह तुच्छ या तंग करने वाली है अथवा विलंब करने

के प्रयोजन से की गई है, उसके संक्षिप्त अवधारण के लिए उपबंध करने वाले नियम ;

(ज) अनुच्छेद 317 के खंड (1) में निर्दिष्ट जांचों के लिए प्रक्रिया के बारे में नियम ।

(2) खंड (3) के उपबंधों के अधीन रहते हुए, इस अनुच्छेद के अधीन बनाए गए नियम, उन न्यायाधीशों की न्यूनतम संख्या नियत कर सकेंगे जो किसी प्रयोजन के लिए बैठेंगे तथा एकल न्यायाधीशों और खंड न्यायालयों की शक्ति के लिए उपबंध कर सकेंगे ।

(3) जिस मामले में इस संविधान के निर्वचन के बारे में विधि का कोई सारवान् प्रश्न अंतर्वलित है उसका विनिश्चय करने के प्रयोजन के लिए या इस संविधान के अनुच्छेद 143 के अधीन निर्देश की सुनवाई करने के प्रयोजन के लिए बैठने वाले न्यायाधीशों की न्यूनतम संख्या पांच होगी :

परन्तु जहां अनुच्छेद 132 से भिन्न इस अध्याय के उपबंधों के अधीन अपील की सुनवाई करने वाला न्यायालय पांच से कम न्यायाधीशों से मिलकर बना है और अपील की सुनवाई के दौरान उस न्यायालय का समाधान हो जाता है कि अपील में संविधान के निर्वचन के बारे में विधि का ऐसा सारवान् प्रश्न अंतर्वलित है जिसका अवधारण अपील के निपटारे के लिए आवश्यक है वहां वह न्यायालय ऐसे प्रश्न को उस न्यायालय को, जो ऐसे प्रश्न को अंतर्वलित करने वाले किसी मामले के विनिश्चय के लिए इस खंड की अपेक्षानुसार गठित किया जाता है, उसकी राय के लिए निर्देशित करेगा और ऐसी राय की प्राप्ति पर उस अपील को उस राय के अनुरूप निपटाएगा ।

(4) उच्चतम न्यायालय प्रत्येक निर्णय खुले न्यायालय में ही सुनाएगा, अन्यथा नहीं और अनुच्छेद 143 के अधीन प्रत्येक प्रतिवेदन खुले न्यायालय में सुनाई गई राय के अनुसार ही दिया जाएगा, अन्यथा नहीं ।

(5) उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रत्येक निर्णय और ऐसी प्रत्येक राय, मामले की सुनवाई में उपस्थित न्यायाधीशों की बहुसंख्या की सहमति से ही दी जाएगी, अन्यथा नहीं, किन्तु इस खंड की कोई बात किसी ऐसे न्यायाधीश को, जो सहमत नहीं है, अपना विसम्मत

निर्णय या राय देने से निवारित नहीं करेगी ।”

अनुच्छेद 145 के अधीन इस न्यायालय को संविधान द्वारा या विधि द्वारा इस न्यायालय में निहित अपनी आरंभिक या अपीली अधिकारिता के बारे में इस न्यायालय की पद्धति और प्रक्रिया को विनियमित करने हेतु नियम बनाने के लिए प्राधिकृत किया गया है । तथापि, इस न्यायालय का ऐसा प्राधिकार अभिव्यक्त रूप से संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए और भारत के राष्ट्रपति के अनुमोदन के भी अधीन रहते हुए किया गया है ।

94. मेरी राय में, इस दलील का खंडन किया जाना अपेक्षित है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 141 को देखते हुए विचाराधीन निर्वाचन अर्जी के संचालन में सिविल प्रक्रिया संहिता लागू होती है । क्योंकि ऐसी प्रक्रिया, जिसका कि इस न्यायालय द्वारा संविधान द्वारा या संसद् द्वारा, विधि द्वारा, प्रदत्त अधिकारिता का प्रयोग करते समय अनुसरण किया जाना अपेक्षित है, केवल संसद् द्वारा और जब तक ऐसी कोई विधि नहीं बनाई जाती तब तक इस न्यायालय द्वारा बनाए गए नियमों द्वारा अधिकथित की जा सकती है । सिविल प्रक्रिया संहिता संसद् द्वारा बनाई गई कोई विधि नहीं है बल्कि संविधान के अनुच्छेद 366(10) के अधीन के पद के अर्थात्गत एक “विद्यमान विधि” है जिसे बल अनुच्छेद 372 से प्राप्त होता है ।

95. सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (संक्षेप में ‘संहिता’) ‘सिविल न्यायालयों की प्रक्रिया से संबंधित विधियों का समेकन करने’ संबंधी एक अधिनियमिति है । यद्यपि, इस संहिता में ऐसा कुछ भी अभिव्यक्त नहीं है जो यह घोषित करता हो कि यह संहिता सिविल न्यायालयों को लागू होती है, तथापि, ऐसी घोषणा संहिता की उद्देशिका में अंतर्विष्ट है । उत्तरवर्ती संहिताओं की चिरकालिक स्थापित पद्धति और निर्वचन से सदैव यह समझा जाता है कि सिविल प्रक्रिया संहिता केवल किसी सिविल न्यायालय की कार्यवाहियों के प्रति लागू होती है । पहली संहिता वर्ष 1859 में बनाई गई थी जिसके स्थान पर उसकी उत्तरवर्ती संहिता (1877 का अधिनियम 10) लाई गई थी । उन विभिन्न अधिनियमितियों का, जिनके द्वारा सिविल न्यायालयों की प्रक्रिया को विनियमित किया जाता था, संक्षिप्त इतिवृत्त संक्षेप में मुल्ला द्वारा लिखित कोड आफ सिविल प्रोसिजर, सातवां संस्करण, पृष्ठ 2 पर दिया गया है जो कि निम्न प्रकार है :-

“पहली सिविल प्रक्रिया संहिता 1858 का अधिनियम संख्यांक 8 थी। उसके पूर्व मुफस्सल न्यायालयों की प्रक्रिया 1861 के अधिनियम संख्यांक 10 द्वारा निरसित किए गए विशेष अधिनियमों और विनियमों द्वारा विनियमित की जाती थीं; और उच्चतम न्यायालय की प्रक्रिया अपने स्वयं के नियमों और आदेशों तथा कतिपय अधिनियमों उदाहरणार्थ 1852 का अधिनियम संख्यांक 17 और 1854 का अधिनियम संख्यांक 6 के अधीन थीं। 1859 की संहिता केवल मुफस्सल न्यायालयों को लागू होती थी। वर्ष 1862 में, उच्चतम न्यायालय और प्रेसिडेंसी नगरों में सदर दीवानी अदालत के न्यायालयों का उच्चतम न्यायालय अधिनियम, 1861 (24 और 25 विक.सी. 104) द्वारा उत्सादन कर दिया गया था और उन न्यायालयों की शक्तियां चार्टर्ड उच्च न्यायालयों में निहित कर दी गई थीं। उच्च न्यायालयों को स्थापित करने संबंधी 1862 के लेटर्स पैटेंट द्वारा उन पर सिविल प्रक्रिया संहिता, 1859 लागू की गई थी। 1865 के चार्टर में, जिनमें उच्च न्यायालयों को सिविल मामलों में की कार्यवाहियों को विनियमित करने संबंधी नियम बनाने और आदेश करने के लिए सशक्त किया गया है, उनके लिए 1859 की संहिता तथा पश्चात्वर्ती संशोधनकारी अधिनियमों के उपबंधों से, जहां तक संभव हो, मार्गदर्शन लेना अपेक्षित है।

ऐसे संशोधनकारी अधिनियम हैं – 1860 का अधिनियम संख्यांक 4, 1861 का अधिनियम संख्यांक 23, 1863 का अधिनियम संख्यांक 9, 1867 का अधिनियम संख्यांक 20, 1870 का अधिनियम संख्यांक 7, 1870 का अधिनियम संख्यांक 14, 1871 का अधिनियम संख्यांक 9, 1871 का अधिनियम संख्यांक 32 और 1872 का अधिनियम संख्यांक 7।

अगली संहिता थी 1870 का अधिनियम संख्यांक 10, जिसके द्वारा 1859 की संहिता का निरसन किया गया था। इसमें 1878 के अधिनियम संख्यांक 18 और 1870 के अधिनियम संख्यांक 12 द्वारा संशोधन किया गया था, उसके पश्चात् उसे 1882 की संहिता (1882 का अधिनियम संख्यांक 14) द्वारा अधिक्रांत किया गया था। इसमें 1882 के अधिनियम संख्यांक 15, 1885 के अधिनियम संख्यांक 14, 1886 के अधिनियम संख्यांक 4, 1886 के अधिनियम

संख्यांक 10, 1887 के अधिनियम संख्यांक 8, 1888 के अधिनियम संख्यांक 10, 1889 के अधिनियम संख्यांक 13, 1890 के अधिनियम संख्यांक 8, 1892 के अधिनियम संख्यांक 6, 1894 के अधिनियम संख्यांक 5, 1895 के अधिनियम संख्यांक 7 और 1895 के अधिनियम संख्यांक 13 द्वारा संशोधन किया गया था और उसके पश्चात् उसे वर्तमान सिविल प्रक्रिया संहिता द्वारा अधिकांश किया गया था ।”

यथार्थ रूप में सिविल न्यायालय कौन-सा होता है, उसे संहिता के अधीन अथवा किसी अन्य अधिनियमिति के अधीन परिभाषित नहीं किया गया है । ऐसे किसी पद का प्रयोग उन न्यायालयों से भिन्न रूप में किया जाता है, जो कि आपराधिक मामलों में अधिकारिता का प्रयोग करते हैं । संहिता के अधीन ‘न्यायालय’ शब्द को भी परिभाषित नहीं किया गया है । राजस्व न्यायालयों और लघुवादों से संबंधित विभिन्न विधियों के अधीन गठित न्यायालयों को ऐसे न्यायालय नहीं समझा जाता जिन्हें यह संहिता स्वतः ही लागू होती हो (देखिए : धारा 5, धारा 7 और धारा 8) । ‘राजस्व न्यायालय’ पद को धारा 5(2) में परिभाषित किया गया है । धारा 5(2) इस प्रकार है :-

“धारा 5(2) : उपधारा (1) में ‘राजस्व न्यायालय’ से ऐसा न्यायालय अभिप्रेत है जो कृषि प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त भूमि के भाटक या लाभों से संबंधितवादों या अन्य कार्यवाहियों को ग्रहण करने की अधिकारिता किसी स्थानीय विधि के अधीन रखता है, किंतु इस संहिता के अधीन ऐसेवादों या कार्यवाहियों का विचारण सिविल प्रकृति केवादों या कार्यवाहियों के रूप में करने के लिए इस संहिता के अधीन आरंभिक अधिकारिता रखने वाला सिविल न्यायालय इसके अंतर्गत नहीं है ।”

राजस्व न्यायालयों अथवा लघुवाद न्यायालयों द्वारा प्रयुक्त अधिकारिता की प्रकृति को सिविल अधिकारिता से भिन्न कुछ और प्रकृति का नहीं कहा जा सकता है । इस पर भी विधायिका ने अपने विवेक से संहिता को इन न्यायालयों के प्रति लागू किया जाना उचित नहीं समझा । अतः, अर्जीदार के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल श्री राम जेटमलानी की यह दलील कि संहिता की धारा 141 में अंतर्विष्ट घोषणा को देखते हुए यह संहिता निर्वाचन अधिनियम के अधीन निर्वाचन अर्जी के संचालन के प्रति लागू होती है, मेरी राय में, तर्कसंगत नहीं है । धारा 141 निम्न प्रकार है :-

“141. प्रकीर्ण कार्यवाहियां – उस प्रक्रिया का, जो वादों के विषय में इस संहिता में उपबंधित है सिविल अधिकारिता वाले किसी भी न्यायालय में की सभी कार्यवाहियों में वहां तक अनुसरण किया जाएगा जहां तक वह लागू की जा सके ।”

96. ऐसे निष्कर्ष का एक अन्य कारण यह भी है कि अनेक अधिनियमितियों के अधीन चाहे वे संसद् की हों या राज्य विधान-मंडलों की हों, सिविल न्यायालयों की अधिकारिता के अपवर्जन के संदर्भ में, इस न्यायालय द्वारा निरंतर यह मत अपनाया गया है कि अनुच्छेद 32 के अधीन और अनुच्छेद 226 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करने वाले इस न्यायालय और उच्च न्यायालयों द्वारा संविधान द्वारा उनमें निहित अधिकारिता का प्रयोग किया जाता है और इसलिए इसे ऐसे किसी विधान द्वारा, जो सांविधानिक संशोधन की प्रकृति का न हो, छीना नहीं जा सकता है। तद्द्वारा जो विवक्षित होता है वह यह है कि वे इन विभिन्न अधिनियमितियों में, जो कानून द्वारा सृजित अधिकारिता के वर्जन के प्रति लागू होती हैं, प्रयुक्त ऐसे किसी पद के अर्थात्गत साधारण सिविल न्यायालय नहीं हैं। अतः मैं इस दलील को स्वीकार नहीं कर सकता कि संहिता की धारा 141 के प्रवर्तन के आधार पर यह न्यायालय भारत के संविधान के अनुच्छेद 71 के अधीन अपनी असाधारण अधिकारिता का प्रयोग करते समय संहिता में अंतर्विष्ट प्रक्रिया द्वारा आबद्धकर है।

97. तब प्रश्न यह रहता है कि वह प्रक्रिया कौन सी है जिसका कि इस न्यायालय द्वारा निर्वाचन अधिनियम के अधीन निर्वाचन संबंधी विवाद का न्यायनिर्णयन करते समय अनुसरण किया जाना अपेक्षित है, इस न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 145 के अधीन अपने प्राधिकार का प्रयोग करने में इस न्यायालय की प्रक्रिया को अपनी आरंभिक और अपील, दोनों, अधिकारिता के संबंध में विनियमित करने संबंधी उच्चतम न्यायालय नियम, 1966 नामक नियम बनाए गए हैं, जिन्हें इसमें इसके पश्चात् ‘नियम’ कहा गया है। जहां तक अधिनियम के अधीन निर्वाचन अर्जियों का संबंध है, यह प्रक्रिया नियमों के भाग 7 के अंतर्गत आने वाले आदेश 39 के अधीन विहित है। उसके नियम 34 में इस प्रकार उपबंधित है :-

“34. इस आदेश या न्यायालय के किसी विशेष आदेश के उपबंधों या निदेशों के अधीन रहते हुए किसी निर्वाचन अर्जी में की

प्रक्रिया में यथासंभव निकटतम रूप में न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता के प्रयोग में उसके समक्ष की कार्यवाहियों में की प्रक्रिया का अनुसरण किया जाएगा ।”

नियम 34 में यह अनुबंधित है कि अधिनियम के अधीन किसी निर्वाचन अर्जी का न्यायनिर्णयन करते समय इस न्यायालय से अपनी आरंभिक अधिकारिता के प्रयोग में इस न्यायालय के समक्ष की कार्यवाहियों को विनियमित करने संबंधी नियमों के भाग 3 के आदेश 22 से आदेश 34 में अंतर्विष्ट प्रक्रिया का (यथासंभव निकटतम रूप में) अनुसरण किया जाना अपेक्षित है । (नियमों के भाग 3 में आने वाले विभिन्न नियमों में इस न्यायालय के समक्ष की ऐसी मूल कार्यवाहियों के प्रति सिविल प्रक्रिया संहिता के कतिपय विनिर्दिष्ट उपबंधों के लागू होने का अभिव्यक्त रूप से उपबंध किया गया है ।) ऐसा कोई अनुबंध अभिव्यक्त रूप से आदेश 39 के अन्य उपबंधों या इस न्यायालय के किसी विशेष आदेश या निदेश के अधीन रहते हुए किया जाता है । यह अनुबंध कि यह न्यायालय इस न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता के अधीन कार्यवाहियों को लागू प्रक्रिया (नियमों का भाग 3) का अनुसरण करने के लिए आबद्धकर है, आदेश 39 के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए किया गया है । दूसरे शब्दों में, यदि भाग 3 में अंतर्विष्ट प्रक्रिया भाग 7 (आदेश 39) में अंतर्विष्ट किन्हीं उपबंधों से असंगत है, तो यह न्यायालय भाग 3 में अंतर्विष्ट प्रक्रिया का अनुसरण करने के लिए आबद्धकर नहीं है । इसके अलावा, आदेश 39 के नियम 34 के अधीन आने वाले “....या न्यायालय के किसी विशेष आदेश के उपबंधों या निदेशों ..” खंड को देखते हुए यह न्यायालय किसी मामले विशेष में आदेश 39 के अधीन अंतर्विष्ट प्रक्रिया का अनुसरण न करने के लिए सदैव ही स्वतंत्र है । उन परिस्थितियों की, जो इस न्यायालय द्वारा ऐसे “विशेष आदेशों या निदेशों” के जारी किए जाने को न्यायोचित ठहराती हैं, जब कभी अपेक्षित हो, पृथक् परीक्षा कराया जाना अपेक्षित होता है ।

98. अतः, प्रश्न यह है कि वह प्रक्रिया क्या है जिसका कि इस न्यायालय द्वारा अधिनियम के अधीन कोई निर्वाचन अर्जी प्राप्त होने पर अनुसरण किया जाना अपेक्षित है ? आदेश 39 के नियम 13 से नियम 15 में उस प्रक्रिया को विहित किया गया है जिसका कि इस न्यायालय द्वारा अनुसरण किया जाना होगा, यदि नियमों के भाग 3 में आने वाले आदेश 24 के नियम 1 में यह आज्ञापक बनाया गया है कि जब कोई वाद इस

न्यायालय को अपनी आरंभिक अधिकारिता में उसका न्यायनिर्णयन किए जाने के लिए पेश किया जाता है तो “प्रतिवादी को हाजिर होने और दावे का उत्तर देने के लिए समन जारी किया जाएगा”। आदेश 39 के नियम 13 में एक भिन्न प्रक्रिया विहित है। यह इस प्रकार है :-

“अर्जी पेश किए जाने पर उसे प्रारंभिक सुनवाई के लिए तथा अर्जी की तामील संबंधी आदेशों के लिए और उसके ऐसे विज्ञापन के लिए, जो न्यायालय उचित समझे तथा अर्जी की सुनवाई के लिए समय नियत करने के लिए न्यायालय की पांच न्यायाधीशों से मिलकर बनी एक न्यायपीठ के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा। प्रारंभिक सुनवाई किए जाने पर, यदि न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि यह अर्जी इस आदेश के नियम 20 में यथाअनुध्यात नियमित सुनवाई किए जाने योग्य नहीं है तो वह न्यायालय उस अर्जी को खारिज कर सकेगा या ऐसा कोई समुचित आदेश पारित कर सकेगा जो वह ठीक समझे।”

यहां यह उल्लेखनीय है कि नियम 13, जैसे वह इस समय विद्यमान है, सा. का. नि. संख्यांक 407, तारीख 9 दिसंबर, 1987 द्वारा तारीख 20 दिसंबर, 1997 से प्रतिस्थापित किया गया था, ऐसे प्रतिस्थापन से पूर्व, नियम भिन्न रूप में था।

99. नियम 13 का परिशीलन करने मात्र से यह उपदर्शित होता है कि अधिनियम के अधीन इस न्यायालय के समक्ष कोई अर्जी सम्यक् रूप से पेश किए जाने पर (1) उसे प्रारंभिक सुनवाई और उस पर आदेश किए जाने के लिए पांच न्यायाधीशों की एक न्यायपीठ के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा ; (2) ऐसी कोई सुनवाई और आदेश अर्जी की तामील और उसके विज्ञापन के बारे में होंगे, क्योंकि नियम 14 और नियम 15 में क्रमशः यह नियत है कि अधिनियम के अधीन निर्वाचन अर्जी पेश किए जाने की सूचना नियम 14 के अधीन विनिर्दिष्ट विभिन्न व्यक्तियों पर तामील किया जाना अपेक्षित है। उक्त नियम में तामील की पद्धति और रीति का भी उपबंध है। जबकि नियम 15 में यह नियत है कि अधिनियम के अधीन निर्वाचन अर्जी के पेश किए जाने के तथ्य की सुनवाई के लिए नियत की गई तारीख के चौदह स्पष्ट दिनों के पूर्व राजपत्र में प्रकाशित किया जाएगा और उसे अर्जीदार के खर्च पर समाचारपत्रों में भी विज्ञापित किया जाएगा। नियम 14 और नियम 15 इस प्रकार हैं :-

***नियम 14** – जब तक कि अन्यथा आदेश न किया जाए, अर्जी के पेश किए जाने की, सूचना की जिसके साथ अर्जी की प्रति संलग्न हो, उसके पेश किए जाने के पांच दिन के भीतर या ऐसे अतिरिक्त अवधि के भीतर, जो न्यायालय अनुज्ञात करे, अर्जीदार या उसके अभिलेख अधिवक्ता, प्रत्यर्थी या प्रत्यर्थियों, निर्वाचन आयोग के सचिव, रिटर्निंग आफिसर और भारत के महान्यायवादी पर तामील की जाएगी। ऐसी तामील व्यक्तिगत रूप से अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक द्वारा जैसे न्यायालय का रजिस्ट्रार निदेश दे, की जाएगी। ऐसी तामील के ठीक पश्चात् अर्जीदार या उसका अभिलेख अधिवक्ता रजिस्ट्रार के पास ऐसी तामील के समन और रीति की बाबत एक शपथपत्र फाइल करेगा।

नियम 15 – जब तक कि, यथास्थिति चैंबर न्यायाधीश या रजिस्ट्रार द्वारा अभिमुक्ति प्रदान न की जाए, अर्जी के पेश किए जाने की सूचना उसकी सुनवाई के लिए नियत की गई तारीख के चौदह स्पष्ट दिनों के पूर्व ऐसी रीति में, जैसे न्यायालय या रजिस्ट्रार निदेश दे, राजपत्र में प्रकाशित की जाएगी और अर्जीदार अथवा अर्जीदारों के खर्च पर समाचारपत्रों में विज्ञापित की जाएगी।*

* अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :-

“Rule 14 – Unless otherwise ordered, the notice of the presentation of the petition, accompanied by a copy of the petition, shall within five days of the presentation thereof or within such further time as the Court may allow, be served by the petitioner or his advocate on record on the respondent or respondents the Secretary to the Election Commission, the Returning Officer and the Attorney General for India. Such service shall be effected personally or by registered post, as the Court or Registrar may direct. Immediately after such service the petitioner or his advocate on record shall file with the Registrar an affidavit of the time and manner of such service.

Rule 15 – Unless dispensed with by the Judge in Chambers or the Registrar as the case may be, notice of the presentation of the petition shall be published in the Official Gazette and also advertised in newspapers at the expense of the petitioner or petitioners fourteen clear days before the date appointed for the hearing thereof in such manner as the Court of the Registrar may direct.”

किंतु नियम 14 और नियम 15 में नियत बाध्यताएं अभिव्यक्त रूप से न्यायालय के तत्प्रतिकूल आदेशों के अधीन रहते हुए बनाई गई हैं। इस बात का अवधारण किया जाना है कि नियम 14 और नियम 15 के अधीन विहित सामान्य प्रक्रिया का जिसका कि ऊपर विवेचन किया गया है, किसी मामले विशेष में अनुसरण किया जाना होगा अथवा नहीं, अधिनियम के अधीन किसी निर्वाचन अर्जी को नियम 13 के अधीन अनुध्यात किसी प्रारंभिक सुनवाई के लिए सूचीबद्ध किया जाना अपेक्षित है अथवा नहीं। नियम 13 में आगे यह नियत है कि [3] ऐसी किसी प्रारंभिक सुनवाई पर यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि वह अर्जी नियम 20 के अधीन अनुध्यात किसी नियमित सुनवाई के योग्य नहीं है तो वह न्यायालय या तो उस निर्वाचन अर्जी को खारिज कर सकेगा या ऐसी कोई समुचित आदेश पारित कर सकेगा जो वह ठीक समझे।

100. अतः, आदेश 39 के नियम 13 में आदेश 24 के नियम 1 के अधीन, उस अनुबंध के, जिसमें कि इस न्यायालय के समक्ष कोई मूल वाद के सम्यक् रूप से संस्थित किए जाने के पश्चात् यह आज्ञापक बनाया गया है कि “समन जारी किया जाएगा”, तत्प्रतिकूल प्रक्रिया विहित है। इस बात की अवेक्षा करना उपयुक्त है कि यद्यपि आदेश 24 में समन जारी किए जाने की अपेक्षा है, तथापि, आदेश 39 के नियम 14 में यह अनुध्यात है कि केवल निर्वाचन अर्जी के पेश किए जाने की सूचना जारी की जानी होगी। समन और सूचना के बीच विभेद बहुत ही सूक्ष्म किंतु वास्तविक है जो इस निर्णय पर विचार किए जाने की जरूरत और प्रविषय से परे है। मैंने केवल ऊपरवर्णित नियमों की भाषा में जो विभेद है, उसका तथा उल्लिखित विधिक-विभेद की विद्यमानता का ही निरूपण किया है।

101. उपर्युक्त विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि आदेश 39, नियम 13 के अधीन पांच न्यायाधीशों की उस न्यायपीठ में, जिसके समक्ष अधिनियम के अधीन निर्वाचन अर्जी प्रारंभिक सुनवाई के लिए प्रस्तुत की जाती है, इस बात का विवेकाधिकार निहित किया गया है कि वह इस आशय का निष्कर्ष लेखबद्ध करे कि अर्जी की नियम 14 के अधीन सूचना देने या नियम 15 के अधीन उसका प्रकाशन किए जाने और नियम 20 के अधीन किसी नियमित सुनवाई किए जाने या ऐसा कोई अन्य समुचित आदेश जैसाकि (कदाचित) अर्जी में किसी प्ररूपिक त्रुटि को दूर किए जाने का निदेश दिए जाने संबंधी आदेश किए जाने योग्य है अथवा नहीं। मेरा इस मामले के प्रयोजनार्थ ऐसे “समुचित आदेश” के संपूर्ण प्रविषय और

आयाम की परीक्षा किए जाने का प्रस्ताव नहीं है क्योंकि ऐसा किया जाना आवश्यक नहीं है ।

102. तथापि, यह निर्विवाद है कि निर्वाचन अर्जी की सुनवाई करने वाली न्यायपीठ के इस निष्कर्ष को लेखबद्ध करने के कि निर्वाचन अर्जी नियमित सुनवाई किए जाने योग्य नहीं है, अतः उसे खारिज किया जाना अपेक्षित है, विवेकाधिकार का प्रयोग लेखबद्ध किए जाने वाले उन स्पष्ट और तर्कपूर्ण कारणों से विधि में विदित युक्तिसंगत आधारों पर किया जाना चाहिए । क्योंकि केवल ऐसी बाध्यता से ही हमारे संविधान द्वारा न्यायपालिका को प्रदान की गई संरक्षा और उन्मुक्तियों की असाधारण डिग्री का न्यायौचित्य सिद्ध होता है । स्पष्ट और तर्कपूर्ण कारणों पर आधारित तर्कसंगत आधारों के न होने से एक ऐसी प्रचलित भ्रांत धारणा पैदा होगी कि सांविधानिक शासन की यह शाखा भी दूसरी दोनों शाखाओं से कोई अलग नहीं है, अर्थात् ऐसी भ्रांत धारणा पैदा होगी, जो निश्चित रूप से (विधिक पद्धति की) विश्वसनीयता के प्रति प्रेरक नहीं है ।

103. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 7, नियम 11 का अवलंब लेते हुए श्री राम जेठमलानी ने यह दलील दी कि किसी निर्वाचन अर्जी को केवल उस दशा में जब निर्वाचन अर्जी में वाद हेतुक का प्रकटन न किया गया हो, समन जारी किए जाने के प्रक्रम से पूर्व भी नामंजूर किया जा सकता है । श्री जेठमलानी ने यह दलील दी कि किसी परिस्थिति में यह युक्तियुक्त रूप से दलील नहीं दी जा सकती कि विचाराधीन निर्वाचन अर्जी में कोई विधिमान्य वाद हेतुक का प्रकटन नहीं किया गया है । उन्होंने यह और दलील दी कि यह प्रश्न कि क्या अर्जीदार निर्वाचन अर्जी में उसके द्वारा किए गए विभिन्न अभिकथनों की सत्यता को सिद्ध कर पाएगा अथवा नहीं, नियम 13 के अधीन की गई जांच की विषयवस्तु नहीं हो सकता है बल्कि यह जांच केवल इस बात तक सीमित हो सकती है कि - क्या इन अभिकथनों से, यदि वे साबित किए जाते हैं, ऐसा पर्याप्त वाद हेतुक गठित होगा जो अर्जीदार को ऐसे अनुतोष का, जिसका कि निर्वाचन अर्जी में दावा किया गया है, दावा करने के लिए हकदार बनाता हो ?

104. दूसरी ओर, प्रत्यर्थी का पक्षकथन यह है कि निर्वाचन अर्जी में किए गए विभिन्न तथ्यात्मक अभिकथनों से, यदि उन्हें सही साबित भी कर दिया जाता है, ऐसा कोई वाद हेतुक प्रकट नहीं होता है जो अर्जीदार को ऐसे अनुतोष का, जिसका कि निर्वाचन अर्जी में दावा किया गया है, हकदार बनाता हो ।

105. उपर्युक्त परस्पर विरोधी दलीलों की सत्यता की परीक्षा करने के लिए मैं उन परिस्थितियों की परीक्षा करना समुचित समझता हूँ जिनके अधीन यह न्यायालय अधिनियम के अधीन की गई निर्वाचन अर्जी को नियम 13 के अधीन प्रत्यर्थी को सूचना जारी किए जाने के पूर्व भी, प्रारंभिक सुनवाई के प्रक्रम पर, खारिज कर सकता है।

106. मेरी यह राय है कि उन परिस्थितियों की कोई सुविस्तृत सूची देना संभव नहीं है, जिनमें कि यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि निर्वाचन अर्जी की नियमित सुनवाई किया जाना अपेक्षित नहीं है बल्कि यह कहा जा सकता है कि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि निर्वाचन अर्जी कोई निर्णयज विधि संबंधी कार्यवाही नहीं है बल्कि कानून का एक सृजन है, उन कानूनी अपेक्षाओं का, जिनके अधीन निर्वाचन अधिनियम के अधीन किसी निर्वाचन को प्रश्नगत करने का अधिकार सृजित किया जाता है, अनुपालन न किया जाना निश्चित रूप से एक आधार है जिस पर निर्वाचन अर्जी को प्रारंभिक सुनवाई के प्रक्रम पर खारिज किया जा सकता है।

107. उदाहरणार्थ, निर्वाचन अधिनियम के अधीन किसी निर्वाचन को प्रश्नगत करने का अधिकार केवल ऐसे दो प्रवर्ग के लोगों को प्राप्त है जिसका धारा 14क के अधीन, जिसकी कि पहले ही अवेक्षा की जा चुकी है, उल्लेख किया गया है। ऐसे किसी मामले में जहां कि उस व्यक्ति से, जो निर्वाचन को प्रश्नगत करने का हकदार है, भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा, निर्वाचन अर्जी में किए गए अभिकथनों को विचार में लिए बिना, पेश की जाती है, वहां उसे प्रारंभिक सुनवाई के प्रक्रम पर ही खारिज कर दिया जाना अपेक्षित होता है।

108. इसी प्रकार, धारा 14क में यह घोषित है कि अधिनियम के अधीन किसी निर्वाचन को केवल धारा 18 और धारा 19 के अधीन विनिर्दिष्ट आधार पर ही प्रश्नगत किया जा सकता है। धारा 18 और धारा 19 इस प्रकार हैं :-

“18. निर्वाचित अभ्यर्थी के निर्वाचन को शून्य घोषित करने के आधार – (1) यदि उच्चतम न्यायालय की यह राय है कि –

(क) निर्वाचित अभ्यर्थी या निर्वाचित अभ्यर्थी की सहमति से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा निर्वाचन में रिश्वत या असम्यक् असर का अपराध किया गया है, अथवा

(ख) निर्वाचन का परिणाम पर –

(i) किसी मत के अनुचित तौर पर लिए जाने या इनकार किए जाने के कारण से, अथवा

(ii) संविधान के या इस अधिनियम के या इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों या किए गए आदेशों के उपबंधों का अनुपालन न किए जाने से, अथवा

(iii) इस तथ्य के कारण कि किसी ऐसे अभ्यर्थी का (निर्वाचित अभ्यर्थी से भिन्न) नामनिर्देशन, जिसने अपनी अभ्यर्थिता वापस नहीं ली है, गलत रूप में स्वीकार किया गया है,

तात्त्विक रूप से प्रभाव पड़ा है, अथवा

(ग) किसी अभ्यर्थी का नामनिर्देशन गलत रूप से अस्वीकार किया गया है या निर्वाचित अभ्यर्थी का नामनिर्देशन गलत रूप से स्वीकार किया गया है,

तो उच्चतम न्यायालय यह घोषणा करेगा कि निर्वाचित अभ्यर्थी का निर्वाचन शून्य है ।

(2) इस धारा के प्रयोजनों के लिए निर्वाचन में रिश्वत और असम्यक् असर डालने के अपराध के वही अर्थ हैं जो भारतीय दंड संहिता (1860 का 45) के अध्याय 9क में हैं ।

19. निर्वाचित अभ्यर्थी से भिन्न अभ्यर्थी को निर्वाचित घोषित किए जाने के आधार – यदि किसी व्यक्ति ने, जिसने निर्वाचन अर्जी पेश की है निर्वाचित अभ्यर्थी के निर्वाचन को प्रश्नगत करने के अतिरिक्त, इस घोषणा के लिए दावा किया है कि वह स्वयं या कोई अन्य अभ्यर्थी सम्यक् रूप से निर्वाचित हुआ है और उच्चतम न्यायालय की यह राय है कि वास्तव में अर्जीदार या ऐसे अन्य अभ्यर्थी ने विधिमान्य मतों में से बहुसंख्यक मत प्राप्त किए हैं तो उच्चतम न्यायालय निर्वाचित अभ्यर्थी का निर्वाचन शून्य घोषित करने के पश्चात्, यथास्थिति, अर्जीदार या ऐसे अन्य अभ्यर्थी को सम्यक् रूप से निर्वाचित घोषित करेगा :

परंतु यदि यह साबित हो जाता है कि ऐसे अभ्यर्थी का निर्वाचन उस दशा में शून्य होता जिसमें वह निर्वाचित अभ्यर्थी रहता और उसके निर्वाचन को प्रश्नगत करने वाली अर्जी पेश की गई होती तो

ऐसे अर्जीदार या अन्य अभ्यर्थी को सम्यक् रूप से निर्वाचित घोषित नहीं किया जाएगा ।”

अतः, यदि निर्वाचन अर्जी में किए गए अभिकथनों को भले ही सत्य मान लिया जाए तो भी वे कोई एक या कुछ आधार गठित नहीं करते जिन पर अधिनियम के अधीन किसी निर्वाचन को चुनौती दी जा सके, यह निश्चित रूप से एक आधार होगा जो इस न्यायालय को इस निष्कर्ष पर पहुंचने में समर्थ बनाता है कि निर्वाचन अर्जी किसी नियमित सुनवाई किए जाने के योग्य नहीं है ।

109. इसी पृष्ठभूमि में इस प्रश्न का कि वर्तमान निर्वाचन अर्जी प्रत्यर्थी को सूचना जारी किए बिना भी खारिज किया जाना अपेक्षित है अथवा नहीं, अवधारण किया जाना अपेक्षित है ?

110. प्रत्यर्थी - जो इस न्यायालय के समक्ष उसे इस न्यायालय द्वारा सूचना जारी किए जाने का निदेश दिए जाने के पूर्व ही हाजिर हो गया था - की दलीलों में संपूर्णतया इस बात पर जोर दिया गया है कि निर्वाचन अर्जी में किसी ऐसे वाद हेतुक का प्रकटन नहीं किया गया है जिसके कारण नियम 14 और नियम 15 के अधीन अनुध्यात सूचना का जारी किया जाना या प्रकाशन तथा आदेश 39 के नियम 20 के अधीन अनुध्यात कोई नियमित सुनवाई किया जाना आवश्यक हो ।

111. प्रत्यर्थी की इस दलील को स्वीकार या नामंजूर करने के लिए उन आधारों की परीक्षा करना आवश्यक है जिन पर प्रत्यर्थी के निर्वाचन को चुनौती दी गई है ।

112. वह आधार, जिस पर प्रत्यर्थी के निर्वाचन को चुनौती दी गई है, केवल यह है कि वह भारत के राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचन लड़ने के लिए पात्र नहीं था । ऐसा आधार उन आधारों में से एक आधार है जिस पर प्रत्यर्थी के भारत के राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन को चुनौती दी जा सकती है क्योंकि धारा 18(1)(iii) में यह अनुबंधित है कि यदि न्यायालय की यह राय है कि सफल अभ्यर्थी के नामनिर्देशन को गलत तौर पर स्वीकार किया गया है, तो यह न्यायालय उस निर्वाचन को शून्य घोषित करेगा ।

113. अगला प्रश्न यह है कि क्या निर्वाचन अर्जी में ऊपरवर्णित आधार को सिद्ध करने के लिए ऐसे आवश्यक अभिकथन अंतर्विष्ट हैं जिन पर निर्वाचन को चुनौती दी जा सकती है ? वे अभिकथन, जो इस बारे में निर्वाचन अर्जी में प्रकट किए गए हैं, दो प्रकार के हैं और माननीय मुख्य

न्यायमूर्ति तथा मेरे न्यायबंधु न्या. रंजन गोगोई के निर्णयों में उन्हें पर्याप्त रूप से प्रतिपादित किया गया है। अतः मेरा उन्हें दोहराने का कोई विचार नहीं है।

114. प्रत्यर्थी ने इस तथ्य का कोई प्रतिवाद नहीं किया है कि वह भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कोलकाता का अध्यक्ष था और लोक सभा में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इंडियन नेशनल कांग्रेस) नामक राजनीतिक दल का नेता भी था तथापि, प्रत्यर्थी ने यह सुस्पष्ट पक्ष अपनाया कि उसने निर्णायक तारीख के पूर्व अर्थात् नामनिर्देशन पत्रों की संवीक्षा की तारीख (2 जुलाई, 2012) को ऊपरवर्णित दोनों पदों से त्यागपत्र दे दिया था इसी पक्ष-कथन का निर्वाचन अर्जीदार द्वारा अर्जी में एक सुविस्तृत अभिवाक् करके पुरजोर प्रतिवाद किया है कि प्रत्यर्थी वस्तुतः निर्णायक तारीख तक ऊपरवर्णित पदों को धारण करने से प्रविरत नहीं हुआ था।

115. प्रत्यर्थी ने यह भी सुस्पष्ट पक्ष अपनाया कि यद्यपि उसने निर्णायक तारीख तक ऊपरवर्णित दोनों पदों से त्याग पत्र दे दिया था, तथापि, ऊपरवर्णित पदों में से कोई भी पद ऐसा नहीं है जिसको धारण करने से वह प्रश्नगत निर्वाचन लड़ने से अपात्र हो जाए।

116. वह विवाद्यक, जिसकी कि नियम 13 के अधीन प्रारंभिक सुनवाई पर आदेश के प्रयोजन के लिए परीक्षा किया जाना अपेक्षित है, यह है कि क्या ऊपरवर्णित दोनों पदों में से किसी पद को - **यदि वे वस्तुतः निर्णायक तारीख को धारित किए हुए थे** - धारण करने से प्रत्यर्थी प्रश्नगत निर्वाचन लड़ने के लिए अपात्र हो जाता ? यदि इसका उत्तर 'नहीं' में है, तो यह न्यायालय विचाराधीन निर्वाचन अर्जी को नियम 13 के अधीन खारिज कर सकता है।

117. इस विवाद्यक का उत्तर, मेरी राय में, इस प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करता है कि क्या उक्त दोनों पद लाभ के पद हैं जो विधि में, प्रत्यर्थी को प्रश्नगत निर्वाचन लड़ने के लिए अपात्र बनाते हैं। यह प्रश्न कि क्या प्रत्यर्थी वस्तुतः निर्णायक तारीख को उन पदों को धारण किए हुए था ?, तथ्य का प्रश्न है जो, मेरी राय में, इस प्रक्रम पर जांच की विषयवस्तु नहीं हो सकता।

118. पहले प्रश्न के उत्तर के लिए हमें सर्वप्रथम अवश्य ही इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि विधि के अधीन वह प्रतिषेध क्या है, जो किसी व्यक्ति को प्रश्नगत निर्वाचन लड़ने के लिए अपात्र बनाता है।

119. अनुच्छेद 58 में यह उपबंधित है कि –

“58. राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए अर्हताएं – (1) कोई व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र तभी होगा जब वह –

(क) भारत का नागरिक है,

(ख) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका है, और

(ग) लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित है ।

(2) कोई व्यक्ति, जो भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण में किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है, राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र नहीं होगा ।

स्पष्टीकरण – इस अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिए, कोई व्यक्ति केवल इस कारण कोई लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति या किसी राज्य का राज्यपाल है अथवा संघ का या किसी राज्य का मंत्री है ।”

120. उपर्युक्त से यह देखा जा सकता है कि भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन उक्त सरकारों में से किसी भी सरकार के नियंत्रण के अधीन या अन्य बातों के साथ-साथ कोई स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन, लाभ का पद धारण करने से ऐसे लाभ के पद को धारण करने वाला व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचन के लिए अपात्र हो जाएगा ।

121. प्रत्यर्थी का प्रतिवाद यह है कि उसके द्वारा धारण किए हुए पदों में से कोई भी पद अनुच्छेद 58(2) के अंतर्गत आने वाला लाभ का पद नहीं है जो कि उसे प्रश्नगत निर्वाचन लड़ने के लिए अपात्र बनाता हो । प्रत्यर्थी के अनुसार, भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कोलकाता के अध्यक्ष के पद को - चाहे वह लाभ का पद है अथवा नहीं [अनुच्छेद 102(1)(क) के अधीन यथा-अनुध्यात संसद् द्वारा बनाई गई एक विधि अर्थात् संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 द्वारा] इस प्रकार घोषित किया गया है कि वह किसी व्यक्ति को संसद् के सदस्य के रूप में चुने जाने या होने के लिए निरर्हित नहीं करता है । अनुच्छेद 102(1)(क) के अधीन प्रदत्त शक्ति के तात्पर्यित प्रयोग में, संसद्, समय-समय पर, विभिन्न अधिनियमितियां बनाती हैं -

उसी शृंखला में संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 है, जिसे भी समय-समय पर, एक बार वर्ष 1993 में और बाद में वर्ष 1996 और वर्ष 2006 में, संशोधित किया गया है। उक्त अधिनियम की धारा 3 में यह घोषित किया गया है कि उसमें विनिर्दिष्ट पदों में से कोई भी पद उसके धारक को संसद् के सदस्य के रूप में चुने जाने या होने या रहने के लिए निरर्हित नहीं बनाएगा। धारा 3, जहां तक वह सुसंगत है, निम्नलिखित अनुसार है :-

“3. कतिपय लाभ के पद निरर्हित नहीं करेंगे – एतद्द्वारा यह घोषित किया जाता है कि निम्नलिखित पदों में से कोई भी पद, उसके धारक को संसद्-सदस्य चुने जाने या संसद्-सदस्य होने या रहने के लिए वहां तक निरर्हित न करेगा जहां तक कि वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद है, अर्थात् :-
....”

विभिन्न पदों को उक्त धारा के विभिन्न उपखंडों में - उपखंड (क) से (ड) में - ऐसे पदों के रूप में विनिर्दिष्ट किया गया है जो उसके धारक को संसद् का संसद् होने या रहने से निरर्हित नहीं करते हैं। समय-समय पर प्रतिस्थापित इन विभिन्न खंडों का (जो कि मुझे अधिनियम में अविचारित रूप से किए गए अंतःस्थापन उपदर्शित होते हैं) विश्लेषण करने पर यह दर्शित होता है कि कुछ पद कानूनी हैं, उनमें से कुछ पद भारत सरकार या राज्य सरकार के कार्यपालिक आदेशों के आधार पर अस्तित्व में लाए गए हैं। इस संदर्भ में जो सुसंगत है वह है उक्त धारा का खंड (ट), जो निम्नलिखित अनुसार है :-

“(ट) सारणी में विनिर्दिष्ट किसी कानूनी या अकानूनी निकाय के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सचिव या सदस्य (चाहे वह किसी भी नाम से ज्ञात हो) का पद ;”

यद्यपि किसी निकाय - केंद्रीय सरकार या किसी राज्य सरकार से भिन्न - के अधीन लाभ का पद धारण करना संसद् के निर्वाचन की ईप्सा करने वाले किसी व्यक्ति के लिए कोई निरर्हता नहीं है, तथापि, संसद् ने निरर्हता अधिनियम, 1959 के उपबंधों की परिधि में अधिनियम की अनुसूची से उपाबद्ध सारणी के साथ पठित धारा 3(ट) में वर्णित विभिन्न पदों को सम्मिलित करने का निर्णय लिया। क्या ऐसे पद धारकों को संसद् के निर्वाचन की ईप्सा करने से निरर्हित होने की इस आधार पर

किसी चुनौती से बचने के लिए अधिनियम की संरक्षणात्मक परिधि में ऐसे पदों को लाना वस्तुतः आवश्यक है अथवा नहीं, एक विवाद्य प्रश्न है। अधिनियम की अनुसूची में एक सारणी दी गई है, जो कि 2006 के अधिनियम संख्यांक 31 द्वारा अंतःस्थापित की गई थी, जिसमें 55 प्रविष्टियां हैं। उनमें की प्रविष्टि 4 भारतीय सांख्यिकी संस्थान से संबद्ध है, जिसका कि प्रत्यर्थी स्वीकार्यतः अध्यक्ष था। अतः, यह दलील दी गई है कि यह मान लेने पर भी कि यह अनुच्छेद 58(2) के अंतर्गत आने वाला कोई लाभ का पद है, तो भी ऐसे किसी पद को धारण करने से वह प्रश्नगत निर्वाचन लड़ने से संसद् (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1959 (जिसे इसमें इसके पश्चात् “निरर्हता निवारण अधिनियम, 1959” कहा गया है) में की गई घोषणा के कारण अपात्र नहीं हो जाता है क्योंकि संविधान में ही अनुच्छेद 102(1)(क) के अधीन ऐसी कोई विधि बनाने के लिए संसद् को प्राधिकृत किया गया है और अनुच्छेद 58(1)(ग) में यह घोषित है कि “लोक सभा का सदस्य होने के लिए अर्हित” कोई व्यक्ति राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने के लिए पात्र होगा।

122. दूसरी ओर, श्री जेठमलानी द्वारा यह दलील दी गई है कि अनुच्छेद 58(2) और अनुच्छेद 102(1)(क) की भाषा में अंतर है। ये दोनों ही धाराएं भारत के राष्ट्रपति के पद पर या संसद् के सदस्य के रूप में निर्वाचन लड़ने के लिए क्रमशः कतिपय लाभ के पदों और ऐसे पदों के धारकों से जुड़ी पारिणामिक निरर्हता के संबंध में है। निरर्हता अधिनियम, 1959 के अधीन की गई घोषणा किसी मामले विशेष में ऐसे किसी घोषित पद के धारक को संसद् के किसी सदन का निर्वाचन लड़ने हेतु समर्थ बनाने के लिए अनुच्छेद 102(1)(क) में विनिर्दिष्ट निरर्हता के प्रवर्तन से पर्याप्त विधिक उन्मुक्ति प्रदान करती है किंतु ऐसी घोषणा अनुच्छेद 58(2) में अंतर्विष्ट निरर्हता के प्रवर्तन से कोई उन्मुक्ति प्रदान नहीं करती है।

123. संविधान के अधीन भारत के राष्ट्रपति के पद पर या विधायी निकायों में से किसी निकाय की सदस्यता के लिए कोई निर्वाचन लड़ने की ईप्सा करने वाले व्यक्ति को संविधान द्वारा नियत कतिपय पात्रता संबंधी मापदंडों को पूरा करना चाहिए। संविधान के अनुच्छेद 58 में यह अनुबंधित है कि कोई व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र तभी होगा जब वह भारत का नागरिक हो और लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए अर्हित हो और वह पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो। इस बात की अवश्य ही अवेक्षा की जानी चाहिए कि संसद् की सदस्यता के बारे

में अर्हताएं और निरर्हताएं क्रमशः अनुच्छेद 84 और अनुच्छेद 102 में अंतर्विष्ट हैं। अनुच्छेद 84 और अनुच्छेद 102 निम्न प्रकार हैं :-

“84. संसद् की सदस्यता के लिए अर्हता – कोई व्यक्ति संसद् के किसी स्थान को भरने के लिए चुने जाने के लिए अर्हित तभी होगा जब –

(क) वह भारत का नागरिक है और निर्वाचन आयोग द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष तीसरी अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिए गए प्ररूप के अनुसार शपथ लेता है या प्रतिज्ञान करता है और उस पर अपने हस्ताक्षर करता है ;

(ख) वह राज्य सभा में स्थान के लिए कम से कम तीस वर्ष की आयु का और लोक सभा में स्थान के लिए कम से कम पच्चीस वर्ष की आयु का है ; और

(ग) उसके पास ऐसी अन्य अर्हताएं हैं जो संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन इस निमित्त विहित की जाएं ।

102. सदस्यता के लिए निरर्हताएं – (1) कोई व्यक्ति संसद् के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के लिए और सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा –

(क) यदि वह भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन, ऐसे पद को छोड़कर, जिसको धारण करने वाले का निरर्हित न होना संसद् ने विधि द्वारा घोषित किया है, कोई लाभ का पद धारण करता है ;

(ख) यदि वह विकृत चित्त है और सक्षम न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है;

(ग) यदि वह अनुन्मोचित दिवालिया है ;

(घ) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है या उसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर ली है या वह किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुशक्ति को अभिस्वीकार किए हुए है ;

(ङ) यदि वह संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या

उसके अधीन इस प्रकार निरर्हित कर दिया जाता है ।

स्पष्टीकरण – इस खंड के प्रयोजनों के लिए, कोई व्यक्ति केवल इस कारण भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का या ऐसे राज्य का मंत्री है ।

(2) कोई व्यक्ति संसद् के किसी सदन का सदस्य होने के लिए निरर्हित होगा यदि वह दसवीं अनुसूची के अधीन इस प्रकार निरर्हित हो जाता है ।’

अनुच्छेद 84 में यह अनुबंधित है कि संसद् के सदस्य के रूप में चुने जाने के लिए अर्हित होने के लिए व्यक्ति को भारत का नागरिक होना चाहिए, उसे संविधान की तीसरी अनुसूची के साथ पठित उक्त अनुच्छेद के अधीन विनिर्दिष्ट शपथ लेनी चाहिए और वह लोक सभा में स्थान के लिए पच्चीस वर्ष से कम आयु का होना चाहिए और राज्य सभा में स्थान के लिए कम से कम पैंतीस वर्ष की आयु का नहीं होना चाहिए । इस अनुच्छेद में इस बात के लिए भी प्राधिकृत किया गया है कि संसद्, विधि द्वारा, ऐसी अन्य अर्हताएं, भी विहित कर सकेगी । जबकि अनुच्छेद 102 में उन कतिपय प्रवर्ग के व्यक्तियों को घोषित किया गया है जो संसद् के किसी भी सदन के सदस्य के रूप में चुने जाने और सदस्य चुने जाने के पश्चात् सदस्य बने रहने के लिए निरर्हित होंगे । वे हैं – (1) वे व्यक्ति जो भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण किए हुए हों (2) विकृत चित्त वाले व्यक्ति और जिन्हें किसी सक्षम न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है ; (3) कोई अनुन्मोचित दिवालिया व्यक्ति ; (4) वे व्यक्ति जो भारत के नागरिक नहीं हैं या जिन्होंने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता अर्जित कर ली है, आदि । अनुच्छेद 102(ड) में संसद् की सदस्यता के लिए और निरर्हताएं विहित करने संबंधी विधियां बनाने के लिए संसद् को प्राधिकृत किया गया है । तथापि, जहां तक ऊपरवर्णित व्यक्तियों के प्रथम वर्ग (लाभ का पद धारण करने वाले व्यक्तियों) का संबंध है, अनुच्छेद 102(1)(क) के अधीन संसद् को विधि द्वारा इस बात की घोषणा किए जाने के लिए प्राधिकृत किया गया है कि ऐसे घोषित लाभ के पदों को धारण किया जाना संसद् की सदस्यता के लिए कोई निरर्हता नहीं होगी । अनुच्छेद 102 के स्पष्टीकरण में यह सुस्पष्ट घोषणा की गई है कि ऐसा कोई व्यक्ति, जो संघ का या किसी राज्य का मंत्री है, खंड (1)(क) के अधीन अनुध्यात लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा ।

124. लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम' कहा गया है) संसद् द्वारा बनाई गई एक ऐसी विधि है जिसके प्रति अनुच्छेद 84(ग) और अनुच्छेद 102(ड) में निर्देश किया गया है। संसद् के संदर्भ में, धारा 3 और धारा 4 में यह विहित है कि संसद् के निर्वाचन की ईप्सा करने वाला कोई व्यक्ति अनिवार्य रूप से भारत में संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र का निर्वाचक होगा। दूसरे शब्दों में, लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950 की धारा 15 के अधीन अनुध्यात निर्वाचक नामावली में निर्वाचक के रूप में रजिस्ट्रीकरण के लिए विहित विभिन्न अर्हताओं को भी ऐसे व्यक्ति द्वारा, संसद् के लिए निर्वाचन लड़ने हेतु पात्र होने के लिए, पूरा किया जाना चाहिए।

125. उपर्युक्त उपबंधों की संवीक्षा किए जाने पर मुझे यह प्रतीत होता है कि संसद् का सदस्य होने के लिए पात्रता और निरर्हता दो सुभिन्न बातें हैं। मेरी दृष्टि में, ऐसा कोई व्यक्ति, जो संसद् का सदस्य होने के लिए पात्र है और सदस्य होने के लिए निरर्हित नहीं है, स्वतः ही भारत के राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचन लड़ने के लिए पात्र नहीं हो जाएगा। संसद् की सदस्यता के निर्वाचन तथा भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए लागू पात्रता मापदंड में अंतर है।

126. यद्यपि अनुच्छेद 58 में यह घोषित है कि वह व्यक्ति जो लोक सभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित होने के लिए पात्र है, राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए पात्र होगा, इसमें भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन की ईप्सा करने वाले किसी व्यक्ति के लिए पैंतीस वर्ष की उच्चतर आयु की अर्हता अनुबंधित है जबकि अनुच्छेद 84(ख) के अधीन लोक सभा के निर्वाचन की ईप्सा करने वाले व्यक्ति के लिए केवल पच्चीस वर्ष से कम आयु का होना ही पर्याप्त है। दूसरा विभेद यह है कि : अनुच्छेद 102(1)(क) में यह घोषित है कि भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन लाभ का पद धारण करने वाले व्यक्ति (जब तक वे संसद् द्वारा बनाई गई विधि द्वारा संरक्षित न हों) संसद् के सदस्य के रूप में चुने जाने के लिए निरर्हित हैं जबकि अनुच्छेद 58 के उपखंड (2) के अधीन उन व्यक्तियों को निरर्हित किया गया है जो न केवल अनुच्छेद 102(क) के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए हैं बल्कि उन व्यक्तियों को भी निरर्हित किया गया है जो ऊपरवर्णित किसी भी सरकार के नियंत्रणाधीन किसी भी स्थानीय या किसी अन्य प्राधिकारी के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए हैं। दूसरे शब्दों में, किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण

करना संसद् की सदस्यता के लिए कोई निरर्हता नहीं है जबकि यह भारत के राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन के लिए एक निरर्हता है ।

127. एक और विभेद यह है कि लाभ के किसी पद को, जिसको धारण करने से कोई व्यक्ति संसद् के सदस्य के रूप में चुने जाने के लिए निरर्हित हो जाता है, संसद् द्वारा लाभ के ऐसे पद के रूप में घोषित किया जा सकता है, जिसको धारण करने से धारक संसद् का सदस्य होने से निरर्हित जो जाता है । ऐसा कोई प्राधिकरण भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन में अभ्यर्थियों के संदर्भ में अभिव्यक्त रूप से संसद् को प्रदत्त नहीं किया गया है ।

128. अतः जब अनुच्छेद 58(1)(ग) में यह अनुबंधित है कि कोई व्यक्ति भारत के राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित होने का पात्र तभी होगा जब वह लोक सभा का सदस्य होने के लिए अर्हित है, लाभ के कतिपय पदों के संबंध में संसद् द्वारा की गई संरक्षात्मक घोषणा अनुच्छेद 102(1)(क) के प्रति निर्देश्य, ऐसे पदों के धारकों को राष्ट्रपतीय निर्वाचन लड़ने के लिए पात्र नहीं बनाती है । विशिष्टतया, किसी “स्थानीय या अन्य प्राधिकारी” के अधीन लाभ का पद धारण करने वाले धारक निश्चित रूप से भारत का राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए निरर्हित हैं । उक्त निरर्हता को संसद् द्वारा हटाया नहीं जा सकता क्योंकि अनुच्छेद 102(1)(क) के अधीन संसद् को भारत सरकार या राज्य सरकार के नियंत्रणाधीन किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन लाभ का पद धारण करने वालों के संदर्भ में ऐसी कोई घोषणा करने के लिए प्राधिकृत नहीं किया गया है क्योंकि स्पष्टतया ऐसे किसी पद के धारण किए जाने को संविधान के अधीन संसद् की सदस्यता के लिए कोई निरर्हता होने के रूप में घोषित नहीं किया गया है । मैं श्री जेठमलानी की दलील को स्वीकार करता हूँ । मेरी राय में, संविधान में भारत के राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन के लिए अति कठोर अर्हताएं विहित हैं और अनुच्छेद 58(2) के अधीन अनुबंधित निरर्हता के प्रति संसद् द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा छूट नहीं दी जा सकती है ।

129. मेरी इस राय का इस न्यायालय द्वारा **बाबूराव पटेल और अन्य बनाम डॉ. जाकिर हुसैन और अन्य**¹ वाले मामले में किए गए विनिश्चय से समर्थन होता है जिसमें कि संविधान के अनुच्छेद 58 और अनुच्छेद 84 के बीच के अंतर की समीक्षा की गई थी । भारत के राष्ट्रपति के रूप में डॉ.

¹ ए. आई. आर. 1968 एस. सी. 904.

जाकिर हुसैन के निर्वाचन को चुनौती देते हुए एक निर्वाचन अर्जी इस न्यायालय में फाइल की गई थी, जिसमें न्यायालय द्वारा जो टिप्पणी की गई वह इस प्रकार है :-

“9. अर्जीदारों की दलील यह है कि चूंकि अनुच्छेद 84 के खंड (क) के कारण संसद के किसी सदन के निर्वाचन के लिए खड़े होने वाले व्यक्ति के लिए तीसरी अनुसूची में विहित प्ररूप में शपथ लेना आवश्यक हो गया है, अतः राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन के लिए खड़े होने वाले व्यक्ति को भी ऐसी शपथ लेनी चाहिए क्योंकि अनुच्छेद 58(1)(ग) में यह अपेक्षित है कि राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन हेतु पात्र होने के लिए कोई व्यक्ति लोक सभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित होने के लिए अर्हित होना चाहिए ।अर्जीदारों ने यह दलील दी कि कोई भी व्यक्ति लोक सभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित होने के लिए अर्हित तभी होगा जब वह तीसरी अनुसूची में तत्प्रयोजनार्थ विहित प्ररूप में शपथ लेता है और प्रतिज्ञान करता है, अतः यह उपबंध राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन के लिए खड़े होने वाले व्यक्ति को लागू होता है क्योंकि ऐसी शपथ के बिना वह लोक सभा के निर्वाचन के लिए खड़े होने के लिए अर्हित नहीं होगा ।”

इस न्यायालय ने पैरा 10 में संविधान के अनुच्छेद 58 और अनुच्छेद 84 की भाषा की तुलना की और यह अभिनिर्धारित किया कि :-

“..... और उनका एक साथ परिशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचन के लिए खड़े होने वाले व्यक्ति के पास ऐसी अर्हताएं होना आवश्यक है जो संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा या उसके अधीन उस निमित्त विहित की जाएं । इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 58(1) के खंड (ग) में यह अधिकथित है कि राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन के लिए खड़ा होने वाला व्यक्ति लोक सभा की सदस्यता के लिए अर्हित होना चाहिए, अनुच्छेद 102 (जिसमें संसद सदस्यों के लिए अर्हताएं अधिकथित हैं) भी उस दशा के सिवाय लागू होगा जहां कि अनुच्छेद 58(2) में कोई विशेष उपबंध अंतर्विष्ट हो । अनुच्छेद 58(1) के खंड (ग) के अंतर्गत लोक सभा के सदस्यों के लिए ऐसी अर्हताओं का उल्लेख है जो संसद द्वारा, विधि द्वारा, अनुच्छेद 84(ग) में अपेक्षित रूप में विहित की जाएं । इसी के आधार पर अनुच्छेद 102 में उपबंध किया गया है, उस अनुच्छेद में ऐसी कतिपय निरर्हताएं अधिकथित हैं जिनसे

राष्ट्रपतीय निर्वाचन के अभ्यर्थी को ग्रस्त नहीं होना चाहिए अर्थात् उसे लोक सभा के सदस्य के रूप में निर्वाचन लड़ने के लिए पात्र होना चाहिए । किंतु यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 58(1) के खंड (क) और खंड (ख) में जो उपबंधित है उसका अर्थ उसी रूप में लगाया जाना चाहिए और इसके लिए राष्ट्रपतीय अभ्यर्थी की नागरिकता और आयु के विषय में अनुच्छेद 84 के खंड (क) और खंड (ख) का अर्थान्वयन करने की आवश्यकता नहीं है । चूंकि अनुच्छेद 58(1) के खंड (क) और (ख) में उस निमित्त विनिर्दिष्ट उपबंध किया गया है अतः हमारी राय में अनुच्छेद 84 के खंड (क) और (ख) को इससे अपवर्जित किया गया है । ऐसा अपवर्जन संशोधन अधिनियम के पूर्व विद्यमान था ।’

इस न्यायालय ने राष्ट्रपति निर्वाचन लड़ने के लिए संविधान की तीसरी अनुसूची में निर्दिष्ट प्ररूप के अनुसार शपथ लेने की अपेक्षा का परिशीलन (निर्वाचन) करने से इनकार कर दिया था ।

130. ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए इस न्यायालय ने इस तथ्य को विचार में लिया कि सोलहवें सांविधानिक संशोधन के पूर्व, ऐसी कोई शपथ लेने की अपेक्षा न तो संसद् के निर्वाचन के संदर्भ में और न ही राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन के संदर्भ में विद्यमान थी । इसे सोलहवें संशोधन द्वारा संसद् के लिए निर्वाचन लड़ने के लिए अर्हित व्यक्ति होने के लिए एक आवश्यक अपेक्षा के रूप में लाया गया था । ऐसा कोई संशोधन, जिसमें राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचन लड़ने वाले व्यक्तियों के प्रति निर्देश किया गया है, न किए जाने से स्पष्ट रूप से यह उपदर्शित होता है कि संविधान में ऐसी किसी अपेक्षा को राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए भी लागू किया जाना कभी भी आशयित नहीं था । इस न्यायालय ने पैरा 12 में जो अभिनिर्धारित किया है वह इस प्रकार है :-

“अब यदि संसद् का आशय यह था कि संसद् के निर्वाचन के लिए खड़े होने वाले व्यक्तियों द्वारा ली जाने वाली शपथ के समान एक शपथ राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन के लिए खड़े होने वाले व्यक्तियों को भी लेनी चाहिए, तो इस बात का कोई कारण नहीं है कि ऐसा संशोधन अनुच्छेद 58(1)(क) में क्यों नहीं किया गया था । इसके अतिरिक्त, यदि संसद् का आशय यह था कि राष्ट्रपतीय निर्वाचन के अभ्यर्थी को भी निर्वाचन के लिए खड़े होने के पूर्व ऐसी शपथ लेनी चाहिए तो ऐसी शपथ का प्ररूप भी या तो तीसरी अनुसूची में अथवा अनुच्छेद 60 का संशोधन करके, जिसमें राष्ट्रपति के रूप में

निर्वाचित व्यक्ति को अपना पद ग्रहण करने के पूर्व शपथ लेने का उपबंध किया गया है, विहित किया जाना चाहिए था। किंतु हमें ऐसा विदित होता है कि ऐसा कोई परिवर्तन न तो अनुच्छेद 58(1)(क) या अनुच्छेद 60 में और न ही तीसरी अनुसूची में राष्ट्रपतीय निर्वाचन के अभ्यर्थी द्वारा निर्वाचन के लिए खड़े होने से पूर्व उसके द्वारा ली जाने वाली शपथ का प्ररूप विहित करने संबंधी ऐसा कोई परिवर्तन किया गया है। इससे यह सुस्पष्ट रूप से उपदर्शित होता है कि संसद् का, ऐसा संशोधन अधिनियम लाने के समय ऐसा कोई आशय नहीं था कि संसद् के निर्वाचन के लिए खड़े होने वाले अभ्यर्थी द्वारा ली जाने वाली शपथ के समान शपथ राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन के लिए भी ली जानी चाहिए। इस प्रकार, अनुच्छेद 84(क) के उपबंध का, जो संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 58(1)(क) में, जिसमें कोई संशोधन नहीं किया गया था, संशोधन किए जाने के पश्चात् विद्यमान था अर्थान्वयन किए जाने का कोई कारण है। यह एक कारण है जिससे हमारी यह राय है कि जहां तक राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचन का संबंध है, उस पद के लिए खड़े होने वाले अभ्यर्थी को राष्ट्रपति के पद के निर्वाचन हेतु पात्र होने के लिए कोई शपथ नहीं लेनी होगी।”

131. अतः, मुझे इस निष्कर्ष पर पहुंचने में कोई संकोच नहीं है कि संसद् द्वारा निरर्हता अधिनियम, 1959 में की गई घोषणा में भारत के राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचन लड़ने की ईप्सा करने वाले किसी अभ्यर्थी के लिए, यदि संभवतः ऐसा कोई अभ्यर्थी अनुच्छेद 58(2) के अधीन अनुध्यात कोई लाभ का पद धारण करता है, उन्मुक्ति प्रदान नहीं की गई है।

132. यदि इस दलील को देखते हुए यह मान भी लिया जाए कि संसद् द्वारा की गई [अनुच्छेद 102(क) के अधीन अनुध्यात और की गई] घोषणा में राष्ट्रपतीय निर्वाचन के किसी अभ्यर्थी की बाबत भी निरर्हता को समाप्त किया जा सकता है, तो भी अनुच्छेद 102(क) संसद् को केवल भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन लाभ के पदों के संबंध में ऐसी घोषणा करने के लिए प्राधिकृत किया गया है न कि “स्थानीय या अन्य प्राधिकारियों” के अधीन लाभ के पदों के संबंध में। अतः, भारतीय सांख्यिकी संस्थान की तथा उसके अध्यक्ष के पद की विधिक प्रकृति की समीक्षा किया जाना अपेक्षित है।

133. क्या ऊपरवर्णित संस्थान के अध्यक्ष के पद को भारत सरकार या

राज्य सरकार या स्थानीय अथवा अन्य प्राधिकारी के अधीन लाभ का ऐसा पद कहा जा सकता है जिसे कि अनुच्छेद 58(2) के अधीन का प्रतिषेध लागू होता हो और प्रत्यर्थी को प्रश्नगत निर्वाचन लड़ने के लिए अपात्र बनाता हो ?

134. इस न्यायालय द्वारा **बी. एस. मिन्हास बनाम भारतीय सांख्यिकी संस्थान और अन्य**¹ वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि भारतीय सांख्यिकी संस्थान एक ऐसा प्राधिकारी है जो भारत के संविधान के अनुच्छेद 12 के अंतर्गत आता है, अतः वह संविधान के भाग 3 के प्रयोजन के लिए 'राज्य' है। भारतीय सांख्यिकी संस्थान की स्कीम के अधीन, भारत सरकार का इस संस्थान के प्रशासन पर गहरा और व्यापक नियंत्रण है। यह संस्थान को वित्तीय सहायता भी उपलब्ध कराती है।

135. उक्त संस्थान सोसाइटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1860 के अधीन एक रजिस्ट्रीकृत निकाय है, जिसके क्रियाकलापों को कुछ सीमा तक भारतीय सांख्यिकी संस्थान अधिनियम, 1959 (1959 का अधिनियम संख्यांक 57) (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'संस्थान अधिनियम' कहा गया है) नामक संसद् की अधिनियमिति द्वारा विनियमित किया जाता है। उक्त अधिनियम की उद्देशिका में यह घोषित है कि :-

“भारतीय सांख्यिकी संस्थान के नाम से ज्ञात संस्था को, वर्तमान में जिसका रजिस्ट्रीकृत कार्यालय कलकत्ता में है, **राष्ट्रीय महत्व की संस्था** घोषित करने के लिए और उससे संबद्ध कुछ मामलों का उपबंध करने के लिए अधिनियम।”

136. यह अवश्य ही स्मरण रखा जाना चाहिए कि अनुच्छेद 246(1) के साथ पठित सातवीं अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 64 के अधीन संसद् को निम्नलिखित की बाबत विधियां बनाने के लिए प्राधिकृत किया गया है :-

“भारत सरकार द्वारा पूर्णतः या भागतः वित्तपोषित और संसद् द्वारा, विधि द्वारा, **राष्ट्रीय महत्व की घोषित वैज्ञानिक या तकनीकी शिक्षा संस्थाएं**।”

137. संस्थान अधिनियम की धारा 4 के अधीन उसमें विनिर्दिष्ट विभिन्न शाखाओं के लिए उपाधियां और डिप्लोमा देने के लिए संस्थान को

¹ (1983) 4 एस. सी. सी. 582.

प्राधिकृत किया गया है। धारा 5 के अधीन सरकार को प्रत्येक वित्तीय वर्ष में संसद् द्वारा यथा विनियोजित कुछ धनराशियों का संस्थान को संदान किए जाने के लिए प्राधिकृत किया गया है। अधिनियम (धारा 6) में संस्थान को अपने लेखाओं की ऐसे संपरीक्षकों से, जो भारत सरकार द्वारा, भारत के नियंत्रक और महालेखापरीक्षक और संस्थान के परामर्श से नियुक्त किए जाएं, कराने के लिए आबद्धकर बनाया गया है। धारा 7 में संस्थान को कतिपय कार्य भारत सरकार के पूर्वानुमोदन के बिना करने से प्रतिषिद्ध किया गया है। वर्तमान मामले के लिए अधिनियम का पूरा ब्यौरा देना आवश्यक नहीं है। धारा 7 इस प्रकार है :-

“धारा 7 – संस्थान द्वारा कुछ कार्यों के लिए केंद्रीय सरकार का पूर्वानुमोदन आवश्यक होना – सोसाइटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1860 (1860 का 21) या संस्थान के ज्ञापन या नियमों और विनियमों में किसी बात के होते हुए भी, केंद्रीय सरकार के पूर्वानुमोदन के बिना, संस्थान –

(क) उन प्रयोजनों में से किसी को परिवर्तित, विस्तारित या न्यून नहीं करेगा जिनके लिए वह स्थापित किया गया था या जिनके लिए इस अधिनियम के प्रारंभ के ठीक पहले उसका उपयोग किया जा रहा है, या अपने को किसी अन्य संस्थान या सोसाइटी से पूर्णतः या अंशतः समामेलित नहीं करेगा ; या

(ख) किसी रीति में अपने ज्ञापन या नियम और विनियमों को परिवर्तित या संशोधित नहीं करेगा ; या

(ग) केंद्रीय सरकार द्वारा विशिष्टतः अर्जन के लिए उपबंधित धन से संस्थान द्वारा अर्जित किसी संपत्ति का विक्रय या अन्यथा व्ययन नहीं करेगा :

परंतु ऐसी किसी जंगम संपत्ति या जंगम संपत्ति के वर्ग के लिए, जो केंद्रीय सरकार द्वारा साधारण या विशेष आदेश द्वारा इस निमित्त विनिर्दिष्ट किया जाए, ऐसा अनुमोदन आवश्यक नहीं होगा; या

(घ) विघटित नहीं होगा।”

138. उपर्युक्त से यह निरापद रूप से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्थान अनुच्छेद 58(2) के अर्थान्तर्गत भारत सरकार के नियंत्रणाधीन एक प्राधिकारी है।

139. संस्थान अधिनियम की स्कीम और उसकी उद्देशिका से यह विदित होता है कि सोसाइटी का प्रशासन उन क्रियाकलापों के सिवाय, जो विनिर्दिष्ट रूप से 1959 के अधिनियम (1959 का 57) द्वारा विनियमित किए जाते हैं, अभी भी सोसाइटी की उपविधियों और विनियमों के अनुसार चलाया जाना होता है। संस्थान के अध्यक्ष का पद किसी कानून द्वारा सृजित कोई पद नहीं है अपितु सोसाइटी की उपविधियों द्वारा सृजित एक पद है। अध्यक्ष को सोसाइटी के विनियमों के अधीन सृजित परिषद् द्वारा चुना जाना अपेक्षित है। अतः, निश्चित रूप से केंद्रीय या राज्य सरकार के अधीन (लाभ या अलाभ) का कोई पद नहीं है।

140. अर्जीदार के विद्वान काउंसिल ने यह पुरजोर दलील दी है कि इस तथ्य से कि संसद् ने भारतीय सांख्यिकी संस्थान के अध्यक्ष का पद निरर्हता अधिनियम, 1959 से उपाबद्ध सारणी में विनिर्दिष्ट रूप से सम्मिलित करना ठीक समझा था, विधितः यह विवक्षित होता है कि प्रश्नगत पद एक लाभ का पद है। विद्वान् काउंसिल द्वारा एम. वी. राजशेखरन और अन्य बनाम वट्टल नागराज और अन्य¹ वाले मामले का अवलंब लिया है, जिसमें इस न्यायालय द्वारा यह मत व्यक्त किया गया है कि :-

“5. इस तथ्य से कि समिति के किसी अध्यक्ष के पद अथवा उसके किसी सदस्य को इस अधिनियम की परिधि के अंतर्गत लाया गया है, यह विवक्षित होता है कि संबंधित पद को अनिवार्यतः लाभ का पद माना जाना चाहिए, विधायिका द्वारा उस खंड के अधीन उसका अपवर्जन न किए जाने की दशा में उस पद का धारक विधान मंडल के सदस्य के रूप में चुने जाने के लिए पात्र नहीं हो सकता है। इस उपबंध का उद्देश्य कुछ प्रकार के पदों को धारण करने वालों को छूट प्रदान करने का है और सारभूत रूप में उपबंध यह है कि उन्हें उस छूट का लाभ मिलेगा, भले ही उन्हें अन्यथा लाभ का पद धारण करने वाले के रूप में समझा जाए.....।”

141. प्रत्यर्थी की ओर से हाजिर होने वाले काउंसिल श्री हरीश साल्वे ने यह दलील दी है कि संविधान के उपबंधों का निर्वचन करते समय विधायिका का इस तथ्य के बारे में कि कोई विशिष्ट पद लाभ का पद है अथवा नहीं, अवबोधन जरूरी नहीं कि वह अनिवार्यतः सही अवबोधन हो और इस न्यायालय से इस प्रश्न की स्वतंत्र रूप से समीक्षा करना अपेक्षित होता है।

¹ (2002) 2 एस. सी. सी. 704, पृष्ठ 711.

142. श्री साल्वे द्वारा यह दलील दी गई है कि भारतीय सांख्यिकी संस्थान के अध्यक्ष के पद को भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन ऐसा कोई लाभ का पद नहीं कहा जा सकता जो ऐसे पद के धारक को संसद् का सदस्य या भारत का राष्ट्रपति बनने से निरर्हित बनाता है ।

143. माननीय महान्यायवादी ने यह दलील दी कि निरर्हता अधिनियम, 1959 कोई पारिभाषिक अधिनियमिति नहीं है । इसमें कहीं भी यह परिभाषित नहीं है कि लाभ का पद कौनसा है, बल्कि यह संसद् के कुछ सदस्यों के निर्वाचन को इस आधार पर कि वे लाभ का पद धारण किए हुए हैं, किसी संभाव्य चुनौती का परिहार करने के लिए अत्यधिक सावधानी बरते हुए बनाई गई एक अधिनियमिति है, अतः यह न्यायालय इस बात की समीक्षा करने के लिए आबद्धकर है कि क्या ऐसा कोई विशिष्ट पद लाभ का पद है जो उसके पद के धारक को संसद् का सदस्य या भारत का राष्ट्रपति होने के लिए अपात्र बनाता है ।

144. इस न्यायालय द्वारा **एम. वी. राजशेखरन** वाले (उपर्युक्त) मामले में कर्नाटक राज्य के अधीन कर्नाटक विधान परिषद् के लिए नागराज नामक एक व्यक्ति के निर्वाचन के संदर्भ में लाभ के पद के प्रश्न पर विचार किया गया था । नागराज को कर्नाटक राज्य द्वारा एकल सदस्यीय आयोग में कतिपय समस्याओं का अध्ययन करने के लिए नियुक्त किया गया था । उस हैसियत में वह कतिपय वेतन और दिन-प्रतिदिन के खर्च की प्रतिपूर्ति का हकदार था। इसके पश्चात् एकल सदस्यीय आयोग के पद पर बने रहने के दौरान नागराज ने कर्नाटक राज्य की विधान परिषद् के निर्वाचन के लिए नामनिर्देशन पत्र फाइल किया । आक्षेप किए जाने पर, नागराज को लाभ का पद धारण किए होने के आधार पर निर्वाचन लड़ने से निरर्हित कर दिया गया था नागराज के नामनिर्देशन को नामंजूर कर दिया गया था । नागराज ने राजशेखरन के निर्वाचन को इस आधार पर प्रश्नगत किया कि उसके नामनिर्देशन को अवैध रूप से नामंजूर किया गया था, जिसमें वह सफल हुआ । राजशेखरन ने इस न्यायालय में अपील की । यह विवादक अनुच्छेद 191 के जिसमें किसी राज्य की विधान सभा या विधान परिषद् के निर्वाचनों के संदर्भ में अनुच्छेद 102 के तत्समान उपबंध है, निर्वाचन के इर्द-गिर्द घूमता रहा । कर्नाटक विधान मंडल (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1956 नामक अधिनियमिति कर्नाटक राज्य द्वारा कुछ पदों के धारकों की संरक्षा करने के लिए बनाई गई थी जिससे कि वे इस आधार पर कि वे पद अनुच्छेद 191 के अधीन अनुध्यात लाभ के पद हैं, निरर्हता से ग्रस्त न हो जाएं ।

145. इस न्यायालय द्वारा यह राय व्यक्त की गई कि नागराज अनुच्छेद 191 के अधीन अनुध्यात लाभ का पद धारण किए हुए था, अतः वह निर्वाचन लड़ने के लिए निरर्हित था क्योंकि नागराज को कर्नाटक सरकार द्वारा एक-सदस्यीय आयोग में नियुक्त किया गया था और वह उसे सौंपी गई समस्याओं का अध्ययन करने और सरकार को रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए आबद्धकर था ; यह कि कर्नाटक सरकार द्वारा उस पद को मंत्रिमंडल के सदस्य की पंक्ति की प्रास्थिति दी गई थी और नागराज के वेतन संबंधी व्ययों और दिन-प्रतिदिन के खर्चों को चुकाने के लिए बजट संबंधी उपबंध किया गया था । इस न्यायालय ने यह निष्कर्ष भी लेखबद्ध किया कि :-

“नागराज जो पारिश्रमिक ले रहा था, उसे अधिनियम की धारा 2(ख) की परिधि के भीतर “प्रतिकरात्मक भत्ता” अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता ।”

146. कर्नाटक विधान-मंडल (निरर्हता निवारण) अधिनियम, 1956 के विभिन्न उपबंधों की समीक्षा की प्रक्रिया के दौरान इस न्यायालय ने, श्री जेठमलानी द्वारा जिन मताभिव्यक्ति का अवलंब लिया गया था, उसका कथन किया (पैरा 55) । मेरी राय में, इस न्यायालय द्वारा राजशेखरन वाले मामले में इस विवाद्यक की कभी भी विनिर्दिष्ट रूप से समीक्षा नहीं की गई थी कि अनुच्छेद 191 या अनुच्छेद 102 (यथास्थिति) के अधीन आने वाली निरर्हता का निवारण करने संबंधी किसी अधिनियमिति में ऐसे पद को सम्मिलित किए जाने से, विधि की दृष्टि में, यह विवक्षित होता है कि ऐसे किसी अधिनियम में विनिर्दिष्ट पद अनिवार्यतः लाभ का पद है अथवा नहीं । अतः, मेरी राय में, ऊपर उद्धरित कथन से उक्त निर्णय का विनिश्चयाधार गठित नहीं होता है ।

147. अन्यथा भी, निरर्हता अधिनियम, 1959 की अनुसूची में विभिन्न पदों को सम्मिलित किए जाने से केवल संसद् का यह अवबोधन प्रतिबिंबित होता है कि वे पद अनुच्छेद 102(1)(क) के अधीन अनुध्यात लाभ के पद हैं । किंतु ऐसा कोई अवबोधन न तो निश्चायक है और न ही इस न्यायालय पर संविधान का निर्वचन करते समय आबद्धकर है । जैसी कि माननीय महान्यायवादी द्वारा दलील दी गई है, ऐसे सम्मिलित किए जाने की कार्रवाई ‘अत्यधिक सावधानी बरतते हुए’ की गई कार्रवाई प्रतीत होती है । प्रत्यर्थी की ओर से फाइल किया गया प्रति शपथपत्र, पृष्ठ 11, पैरा 33 भी देखें, जिसमें यह कथन किया गया है कि :-

“..... इसके अतिरिक्त, उक्त अधिनियम में संशोधन इस न्यायालय द्वारा जया बच्चन वाले मामले में [(2006) 5 एस. सी. सी. 266] किए गए निर्णय को देखते हुए वर्ष 2006 में किया गया था। उस अधिनियम में संशोधन बहुत ही सावधानी बरतते हुए किया गया था जैसाकि संशोधन अधिनियम के उद्देश्यों और कारणों के कथन से स्पष्ट होता है। यह धारणा कि उस अधिनियम के अधीन अभिव्यक्त अपवर्जन इस बात का निश्चायक है कि उस पद से लाभ के पद का गठन होता है अथवा नहीं, इस समय अतर्कसंगत है अनेक संशोधन बहुत ही सावधानी बरतते हुए किए गए थे जिससे कि ऐसे पद के धारकों के संबंध में किसी संविवाद से बचा जा सके। मात्र इस तथ्य से कि किसी पद को उस अधिनियम के अधीन अपवर्जित किया गया है, यह सिद्ध नहीं होता है कि सभी अन्य कानूनों और अनुच्छेद 58 के संबंध में वह पद अनिवार्यतः लाभ का पद है।”

विधि की यह स्थापित स्थिति है कि संविधान और विधियों का निर्वचन करना स्पष्ट रूप से न्यायपालिका के कार्यक्षेत्र के अंतर्गत आता है और उसका कर्तव्य है। अतः, मैं श्री जेठमलानी की इस दलील को नामंजूर करता हूँ।

148. अतः, “लाभ का पद” और “राज्य सरकार/केंद्रीय सरकार के अधीन लाभ का पद” पदों के अर्थ की समीक्षा करना अपेक्षित है।

149. इस न्यायालय द्वारा **शिवमूर्ति स्वामी इनामदार** बनाम **अगादी संगन्ना आन्दनप्पा**¹ वाले मामले में इस प्रश्न पर विचार किया गया था कि लाभ का पद कौन सा होता है? और न्यायालय द्वारा **रावन्ना सुबन्ना** बनाम **जी. एम. कगीरप्पा**² वाले मामले में अधिकथित सिद्धांत को दोहराते हुए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि :-

“14. प्रश्नगत पद सरकार के अधीन धारण किया गया होना चाहिए और उससे कुछ वेतन, सम्बलम्, उपलब्धियां या भत्ते भी जुड़े होने चाहिए। “लाभ” शब्द से धनीय लाभ का भाव द्योतित होता है। यदि कोई लाभ हुआ है तो उसकी सीमा या मात्रा तात्त्विक नहीं होगी, किंतु किसी व्यक्ति द्वारा उस पद के संबंध में, जो वह धारण करता है, प्राप्य धनराशि इस बात का विनिश्चय करने में तात्त्विक हो

¹ (1971) 3 एस. सी. सी. 870.

² ए. आई. आर. 1954 एस. सी. 653.

सकती है क्या उस पद से वस्तुतः कोई लाभ हुआ है.....।”

150. **शिवू सोरेन बनाम दयानंद सहाय और अन्य¹** वाले मामले में दोनों प्रश्नों पर विचार किया गया था। उक्त निर्णय का पैरा 26 और पैरा 27 निम्न प्रकार है :-

“पैरा 26. “लाभ का पद” पद को संविधान अथवा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम में परिभाषित नहीं किया गया है। आम भाषा में, “लाभ” पद से कुछ धनीय लाभ का भाव द्योतित होता है। यदि वस्तुतः कोई लाभ होता है, तो इसका “मानदेय” - “पारिश्रमिक” - “वेतन” के रूप में होना तात्त्विक नहीं है - यह एक उपादान है न कि प्ररूप जिसका कि कोई महत्व हो और यहां तक कि “धनीय लाभ” की सीमा या मात्रा भी सुसंगत नहीं है जिस बात का पता लगाने की जरूरत है वह यह है कि संबंधित व्यक्ति द्वारा उस पद के संबंध में, जो वह धारण करता है, प्राप्य धनराशि से उसे प्रतिकर “से भिन्न कोई धनीय लाभ” अपने जेब खर्च को चुकाने के लिए प्राप्त होता है जिससे संभवतः वह व्यक्ति उस कार्य संचालन के प्रभाव में आ जाए, जो उसे वह लाभ दे रहा है।

पैरा 27. किंतु इस बात का अवधारण करने की दृष्टि से कि संबंधित पद “लाभ का पद” है अथवा नहीं, न्यायालय को वास्तविक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। आवश्यक ब्यौरों की अनदेखी करते हुए कोई व्यापक या साधारण मत अपनाना वांछनीय नहीं है और न ही कोई ऐसा कोई संकुचित दृष्टिकोण अपनाना अनुज्ञेय है जिसका पारिभाषिक रूप वास्तविकता को छिपा दे। कानून के निर्वचन का यह नियम है कि कानूनी उपबंधों का अर्थान्वयन इस प्रकार किया जाए जिससे कि विसंगति से बचा जा सके और जिससे अधिनियम का उद्देश्य विफल होने या निरर्थक बनने की अपेक्षा अग्रसर हो। अतः न्यायालय को किसी कानून का अर्थान्वयन करते समय संपूर्ण अधिनियम का अर्थान्वयन करके यथावत् अर्थान्वयन करने से बचना चाहिए (सुविधा के लिए अशोक कुमार भट्टाचार्य बनाम अजय विश्वास [(1985) 1 एस. सी. सी. 151], तिनसुखिया इलैक्ट्रिक सप्लाइ कंपनी लिमिटेड बनाम असम राज्य [(1989) 3 एस. सी. सी. 709] और आय-कर आयुक्त बनाम जे. एच. गोतला [(1985) 4

¹ (2001) 7 एस. सी. सी. 425.

एस. सी. सी. 343] वाले मामले देखिए) ।”

151. उक्त मामले में प्रश्न यह था कि झारखंड क्षेत्र स्वायत्त परिषद् अधिनियम, 1994 की धारा 20 के अधीन गठित अंतरिम झारखंड क्षेत्र स्वायत्त परिषद् का अध्यक्ष राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किए हुए था अथवा नहीं । इस न्यायालय को इन दोनों प्रश्नों की समीक्षा करनी पड़ी थी कि क्या प्रश्नगत पद किंचित लाभ का पद है और दूसरे क्या वह राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद था ? इस न्यायालय ने उच्च न्यायालय की इस राय की पुष्टि की कि अंतरिम झारखंड क्षेत्र स्वायत्त परिषद् के अध्यक्ष का पद न केवल लाभ का पद था बल्कि राज्य की सरकार के अधीन एक लाभ का पद था । न्यायालय ने इस बात की अवेक्षा की कि “लाभ का पद” विधि के अधीन परिभाषित नहीं किया गया है, अतः उन विचारणाओं को उपदर्शित किया जो इस प्रश्न का कि कोई विशिष्ट पद लाभ का पद है अथवा नहीं, अवधारण करने के लिए सुसंगत हैं । न्यायालय विभिन्न तथ्यों पर विचार करने पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि शिबू सोरेन को जो विभिन्न रकमें दी गई थीं उन्हें “प्रतिकर भत्ते” की प्रकृति का नहीं कहा जा सकता है और वे पारिश्रमिक या वेतन की प्रकृति की थीं जिससे अंतर्निहित रूप से “लाभ” का और शिबू सोरेन को “धनीय लाभ” देने का तत्व विवक्षित होता है और अंतरिम परिषद् के अध्यक्ष का पद सीमित कार्यकाल का एक अस्थायी प्रकृति का पद था और अंतरिम परिषद् के सदस्यों को राज्य द्वारा राज्य के प्रसादपर्यन्त पद धारण करने के लिए नियुक्त किया गया था ।

152. न्यायालय द्वारा यथा उल्लिखित कसौटी यह थी कि क्या उस पद से पदधारी को प्रतिकर से भिन्न कोई धनीय लाभ, अपने जेब खर्च को चुकाने के लिए, मिलता है जिससे कि इस बात की संभावना हो सकती है कि वह व्यक्ति उस कार्यसंचालन के प्रभाव में आ जाए । ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचने में इस न्यायालय ने इस प्रश्न पर अपने पूर्व निर्णयों की समीक्षा की ।

153. ऊपरवर्णित दोनों मामलों में तथा उनमें उद्धरित पूर्व नजीरों में इस प्रश्न की समीक्षा की गई थी कि लाभ का पद कौनसा होता है और इस बात के अवधारण के लिए कौनसी कसौटियां सुसंगत हैं कि ऐसा पद सरकार के अधीन धारण किया हुआ है अथवा नहीं, किंतु इस प्रश्न पर कि अनुच्छेद 58(2) के अधीन केंद्रीय या राज्य सरकार के नियंत्रणाधीन किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन लाभ का पद कौनसा होता है, इस न्यायालय द्वारा उन मामलों में विचार नहीं किया गया था ।

154. मेरे मन में अगला प्रश्न यह उठा कि क्या भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कलकत्ता के अध्यक्ष का पद, जिसके बारे में मैं पहले ही निष्कर्ष निकाल चुका हूँ कि वह अनुच्छेद 58(2) के प्रयोजनार्थ एक प्राधिकारी है, ऐसा लाभ का पद है, जैसाकि इस न्यायालय द्वारा ऊपरवर्णित विभिन्न निर्णयों में स्पष्ट किया गया है। मैं इस आधार पर अग्रसर होता हूँ कि इस बात का अवधारण करने के लिए कि अनुच्छेद 58(2) के अधीन कोई लाभ का पद अनुध्यात है अथवा नहीं, सुसंगत कसौटियां वैसी ही कसौटियां हैं जैसी कि इस न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 102(1)(क) के संदर्भ में अधिकथित की गई हैं। उक्त प्रश्न का उत्तर उन निबंधनों और शर्तों पर निर्भर करता है जिनके अधीन प्रत्यर्थी ने वह पद धारण किया था। ये प्रश्न कि उस हैसियत में उसे संदत्त रकमें, यदि कोई हों, प्रतिकर की प्रकृति की हैं या ऐसी रकमें हैं जो धनीय लाभ पहुंचाती हैं, तथ्य संबंधी प्रश्न हैं, जिनका विनिश्चय, मेरी राय में, केवल उन सभी सुसंगत तथ्यों को अभिनिश्चित करने के पश्चात् किया जाना चाहिए, जो सुस्पष्ट रूप से केवल प्रत्यर्थी या ऊपरवर्णित संस्थान की जानकारी में हैं। मैं यह कथन भी करना चाहता हूँ कि प्रत्यर्थी ने अपने संक्षिप्त प्रत्युत्तर में यह कथन किया है कि उसे ऊपरवर्णित पद धारण करने से कोई धनीय लाभ प्राप्त नहीं हुआ था। वह कथन इस प्रकार है :-

“पूर्वोक्त पर कोई प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, यह निवेदन किया जाता है कि किसी भी दशा में भारतीय सांख्यिकी संस्थान के अध्यक्ष का पद, वेतन, उपलब्धियों, किसी प्रकार की परिलब्धियों आदि की बात तो छोड़ दें, उसके लिए कोई फायदे और पारिश्रमिक भी नहीं मिलते हैं, कोई लाभ का पद नहीं है। यह निवेदन किया जाता है कि भारतीय सांख्यिकी संस्थान सोसाइटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन एक रजिस्ट्रीकृत सोसाइटी है। यह भारतीय सांख्यिकी संस्थान अधिनियम, 1954 द्वारा भी शामिल होती है। संस्थान की कार्यपालिक शक्तियां भारतीय सांख्यिकी संस्थान के निदेशक में निहित हैं। संस्थान का प्रधान और अध्यक्ष, दोनों ही प्रोटोकॉल की दृष्टि से, भारतीय सांख्यिकी संस्थान के निदेशक से उच्चतर पंक्ति में है, किंतु उसके नीचे संस्थान का प्रधान और अध्यक्ष, दोनों ही कोई भी न तो उपलब्धियां, परिलब्धियां या फायदे प्राप्त करने का हकदार है और न ही प्राप्त करते हैं। अध्यक्ष की कोई कार्यपालिक भूमिका नहीं है। इस प्रकार, संविधान के अनुच्छेद 58 के अधीन निरर्हता

उक्त पद के प्रति लागू नहीं होती है ।’

ऐसे परस्पर विरोधी तथ्य संबंधी कथनों की ऐसी समुचित जांच करने के पश्चात् यदि यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि उक्त पद कोई लाभ का पद है तो अनिवार्यतः इस प्रश्न को कि प्रत्यर्थी ने निर्णायक तारीख तक अपना त्यागपत्र दिया था अथवा नहीं, तथ्य संबंधी प्रश्न की जांच करने में पुनः अभिनिश्चित किया जाना अपेक्षित होगा ।

155. क्या तथ्यों के ऐसे प्रश्नों पर कोई विनिश्चय प्रत्यर्थी के उस शपथपत्र पर किया जा सकता है ? जिसकी सत्यता को किसी और संवीक्षा की विषय-वस्तु नहीं बनाया गया है, अर्जीदार को यदि भारतीय सांख्यिकी संस्थान के अभिलेखों का निरीक्षण करने या उनका पता लगाने की अनुज्ञा दी जाती है तो वह प्रत्यर्थी के शपथपत्र की सत्यता का या असत्यता को प्रकट करने के लिए जानकारी प्राप्त कर भी सकता है, नहीं भी कर सकता है ।

156. विवाद्यक यह नहीं है कि अर्जीदार प्रसंगवश अपने पक्षकथन को सिद्ध करने में समर्थ होगा अथवा नहीं । विवाद्यक यह है कि क्या अर्जीदार अपने पक्षकथन को सिद्ध करने के लिए विधि की युक्तिसंगत प्रक्रिया के लिए हकदार है ? इस मामले में पक्षकारों का जो अतिशय दांव पर लगा है वह कुछ और नहीं बल्कि इस देश के राष्ट्रपति का पद है । संविधान में ऐसे विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए केवल एक ही मंच (न्यायालय) का सृजन किया गया है । इस संबंध में अन्य सभी मार्ग बंद हैं । यह अभिनिर्धारित करना कि यह अर्जी नियम 20 के अधीन अनुध्यात किसी नियमित सुनवाई के योग्य नहीं है, मेरी राय में, इस अपेक्षा से संगत नहीं है कि न्याय न केवल किया जाना चाहिए बल्कि वह किया गया प्रतीत भी होना चाहिए ।

157. आंग्ल-सेक्सन न्यायशास्त्र के अधीन, जिसका कि हम अनुसरण करते हैं, पक्षकारों के अधिकारों के न्यायनिर्णयन में उन सुसंगत तथ्यों को सिद्ध किया जाना अपेक्षित है जिनसे न्यायालय से अनुतोष का दावा करने वाले पक्षकार के लिए आवश्यक वाद हेतुक गठित होता हो । ऐसे तथ्यों को मौखिक या दस्तावेजी साक्ष्य प्रस्तुत करके सिद्ध किया जाना होता है । इस संभाव्यता को देखते हुए (कि किसी मामले विशेष में) तथ्य का कथन करने वाले पक्षकार के अपने नियंत्रण में ऐसे सभी साक्ष्य न हों, जो ऐसे किसी तथ्य को साबित करने के लिए आवश्यक हों, सिविल न्यायालय ऐसे दस्तावेजों के प्रकटन, निरीक्षण, पेश किए जाने आदि का आदेश करने और उन व्यक्तियों को, जिनकी अभिरक्षा में ऐसे सुसंगत दस्तावेज उपलब्ध हों,

समन करने के लिए सशक्त है। (सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 11 आदि के साथ पठित धारा 30 देखिए)। ऐसा सशक्तीकरण न्याय के उद्देश्य को पूरा करने के लिए परिकल्पित एक युक्तिसंगत प्रक्रिया के भाग रूप है।

158. यदि निर्वाचन अर्जी के न्यायनिर्णयन में उस जानकारी को प्राप्त करना अपेक्षित है जो अनन्य रूप से प्रत्यर्थी और भारतीय सांख्यिकी संस्थान के पास उपलब्ध है और जो सुसंगत हो सकती है, तो क्या अर्जीदार को यह कहा जा सकता है कि वह इस आधार पर ऐसी जानकारी प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पाएगा कि विधि में ऐसा अवसर प्रदान किए जाने संबंधी कोई उपबंध नहीं है? हम यह पहले ही निष्कर्ष निकाल चुके हैं कि सिविल प्रक्रिया संहिता निर्वाचन अर्जी के संबंध में लागू नहीं होती है। इस न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 145 के अधीन बनाए गए नियमों में इस बारे में कोई उपबंध नहीं है। किंतु इस तथ्य से कि यह न्यायालय निर्वाचन अर्जियों के विचारण को लागू होने वाली प्रक्रिया विनियमित करने संबंधी नियम बनाने के लिए प्राधिकृत है, यह विवक्षित होता है कि इस न्यायालय को ऐसी जानकारी प्राप्त करने के लिए समुचित आदेश पारित करने की शक्तियां प्राप्त हैं। इसके विपरीत अभिनिर्धारित करना किसी वादी को, जो (अतिअनुकूल राजनीतिक शासन प्रणाली को देखते हुए) संभवतः देश का प्रथम नागरिक हो, यह कहने की कोटि में आएगा कि प्रभुत्व सम्पन्न लोकतांत्रिक भारत गणराज्य की विधि के अधीन ऐसी किसी युक्तिसंगत प्रक्रिया का भी उपबंध नहीं है जो कि विदेशी शासकों द्वारा इस देश के साधारण नागरिकों को उपलब्ध कराई गई थी - जो अभी भी इस देश के किसी साधारण वादी को उपलब्ध है।

159. इसी प्रकार, प्रत्यर्थी के इस कथन को कि उसने भारतीय सांख्यिकी संस्थान का अध्यक्ष रहने के आधार पर कोई धनीय फायदा प्राप्त नहीं किया था, अर्जीदार को प्रत्यर्थी की प्रतिपरीक्षा करके या प्रत्यर्थी के समक्ष ऐसे दस्तावेज रखकर, जिनका पता लगाए जाने की यदि अनुमति दी जाती तो संभवतः उनका पता लग सकता था, उस कथन की सत्यता की जांच करने की अर्जीदार को अनुज्ञा दिए बिना स्वीकार करना अर्जीदार को भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 के अधीन गारंटीकृत विधि की समता से वंचित करने की कोटि में आएगा। ऐसी सुविधा इस देश में सिविल न्यायालय में मुकदमा लड़ने वाले प्रत्येक वादी को प्रदान की जाती है। अतः, मैं इस मत से सहमत नहीं हूँ कि यह निर्वाचन अर्जी नियमित सुनवाई के योग्य नहीं है।

160. यहां विचारणीय भारत के राष्ट्रपति का पद नहीं बल्कि समता की सांविधानिक घोषणा और न्यायिक प्रक्रिया की विश्वसनीयता है ।

161. बहुमत की इस राय को देखते हुए कि निर्वाचन अर्जी किसी नियमित सुनवाई के योग्य नहीं है, मेरा इस प्रश्न की समीक्षा करने का प्रस्ताव नहीं है कि प्रत्यर्थी द्वारा लोक सभा के नेता के रूप में धारित दूसरा पद लाभ का ऐसा पद है अथवा नहीं, जिसके प्रति अनुच्छेद 58(2) के अधीन निरर्हता लागू होती है ।

निर्वाचन अर्जी खारिज की गई ।

ग्रो.

क्या आपराधिक मामलों में निजी अधिवक्ता आहत व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कर सकता है ? : विधिक बिन्दुओं का अवलोकन

डा. सुरेन्द्र कुमार*

एलएल.एम., पी-एच.डी.

सामान्यतः आपराधिक प्रक्रिया या तो पुलिस रिपोर्ट या सक्षम मजिस्ट्रेट के समक्ष शिकायत दर्ज कराने पर प्रारंभ होती है। एक निजी अधिवक्ता को आहत शिकायतकर्ता, जिसका शिकायत मामले में विधिक अधिकार है, द्वारा अपना पक्ष रखने के लिए अधिवक्ता नियुक्त करने का अधिकार है। कोई भी अधिवक्ता शिकायत मामले में आहत पक्ष का प्रतिनिधित्व कर सकता है। शिकायत मामलों में शिकायतकर्ता का प्रतिनिधित्व करने, उसके कार्य करने तथा प्रक्रिया पूरी करने में सहयोग करने के लिए किसी भी तरह की विधिक बाधाओं का प्रावधान नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि निजी अधिवक्ता का कार्य इस प्रकार के मामले में शिकायतकर्ता का प्रतिनिधित्व करते हुए न्यायालय में शिकायतकर्ता की तरफ से उपस्थित होना, साक्षियों की परीक्षा करना, अपराधी के साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करना तथा इसके साथ-साथ शिकायतकर्ता के लिए मौखिक अथवा लिखित दलीलें प्रस्तुत करना भी शामिल है। इस व्यवस्था का प्रावधान दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अध्याय 15 तथा धारा 200 से धारा 204 में विदित है। अभियुक्त के विरुद्ध आपराधिक अभियोजन का दूसरा तरीका भी होता है जिसमें आहत व्यक्ति या जिसको घटना की जानकारी हो ऐसा व्यक्ति पुलिस के समक्ष एक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराता है और तब पुलिस की कार्रवाई प्रारंभ होती है और राज्य उस व्यक्ति की सुरक्षा के लिए कार्य करता है। इस स्थिति में मामले का रजिस्ट्रीकरण पुलिस मामले के रूप में किया जाता है तथा सरकार आहत व्यक्ति या इत्तिला देने वाले व्यक्ति की तरफ से एक पक्षकार बन जाती है। पुलिस को भी यह अधिकार है कि वह किसी भी घटना का स्वयं भी संज्ञान लेकर मामला दर्ज कर सकती है। ऐसा मामला भी पुलिस-मामला कहलाता है तथा सरकार पक्षकार बन जाती है। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 301(1) में यह प्रावधान है कि उपरोक्त मामले राज्य सरकार द्वारा नियुक्त लोक अभियोजक, सहायक लोक अभियोजक अथवा विशेष लोक अभियोजक को न्यस्त कर दिए जाते हैं।

* प्राचार्य, दिल्ली ग्रामीण विकास संस्थान, दिल्ली-82, सदस्य, संपादक मंडल, विधि साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली।

(2)

क्या आपराधिक मामलों में निजी अधिवक्ता आहत व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कर सकता है

इन अभियोजकों को मामले का पूरी तरह से निपटारा करने का अधिकार होता है। इस प्रक्रिया में किसी भी प्रकार का विवाद नहीं है। कभी-कभी आहत व्यक्ति या इत्तिला देने वाला व्यक्ति यह चाहता है कि उसका मामला विधि द्वारा स्थापित न्यायालय में राज्य के द्वारा नियुक्त सहायक लोक अभियोजक या विशेष लोक अभियोजक के साथ-साथ एक निजी अधिवक्ता द्वारा भी लड़ा जाए और इस परिस्थिति में वह व्यक्ति ऐसा कर सकता है। इसका मुख्य उद्देश्य अभियुक्त को दंड दिलाना होता है। इस प्रक्रिया में अधिक सावधानी लेने हेतु निजी अधिवक्ता को भी साथ रखने की बात उठती है ताकि मामला पूरी सावधानी के साथ बिना किसी उपेक्षा या लोप के अपनी परिणति तक पहुंच सके। आहत व्यक्ति निजी अधिवक्ता की नियुक्ति पूर्वोपाय के रूप में करता है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी भी आहत व्यक्ति की ओर से न्यायालय में मामले का निजी अधिवक्ता द्वारा पक्षपोषण किए जाने का विधिपूर्वक अधिकार है जबकि उसका मामला सहायक अभियोजक या विशेष अभियोजक द्वारा, जिसको अभियुक्त तथा साक्षियों की परीक्षा, प्रतिपरीक्षा एवं पुनःपरीक्षा तथा दलीलें देने का विधिवत् अधिकार होता है और साथ ही अपना पक्षकथन न्यायालय में पूर्ण रूप से प्रस्तुत करने की तथा अन्य विधिसम्मत कार्यवाही करने की जिम्मेदारी होती है। इस विषय पर और अधिक स्पष्टीकरण के लिए हमें दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 301 का पुनः अध्ययन करना होगा तथा विभिन्न न्यायालयों द्वारा इस संबंध में दिए गए निर्णयों को बारीकी से देखना एवं समझना होगा।

धारा 301 : लोक अभियोजक द्वारा उपसंजाति

किसी भी न्यायालय के समक्ष किसी आपराधिक मामले में जांच, विचारण या अपील की कार्यवाही चल रही है तब लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक जो उस मामले को देख रहा है, बिना किसी लिखित प्राधिकार के उपस्थित हो सकता है। इस तरह के मामलों में, कोई निजी व्यक्ति अधिवक्ता को किसी व्यक्ति के अभियोजन का निदेश भी दे सकता है बशर्ते लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक जो उस मामले की पैरवी करने के लिए अधिकृत है, अभियोजन की कार्यवाही करे और जो निजी अधिवक्ता आहत पक्ष द्वारा अभियोजन के लिए नियुक्त अथवा निदेशित किया गया है, वह लोक अभियोजक या सहायक अभियोजक के निदेशानुसार कार्य करे। न्यायालय की आज्ञा लेकर मामले में साक्ष्य लेने तथा उसकी परीक्षा की कार्यवाही समाप्त होने पर ऐसा

अधिवक्ता लिखित दलील या तर्क फाइल करा सकता है [जे. के. इन्टरनेशनल बनाम दिल्ली राज्य¹]

सेशन मामले में विचारण के संबंध में विभिन्न न्यायालयों के निर्णयों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निजी अधिवक्ता सेशन मामले में विचारण करने के लिए अधिकृत नहीं है। यदि हम दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 24 तथा धारा 301 की आपस में तुलना तथा विश्लेषण करें तो हम पाएंगे कि निजी अधिवक्ता जिसको आहत व्यक्ति या अन्य व्यक्ति ने नियुक्त किया है वह स्वतंत्र रूप से मामले में कोई विधिक कार्यवाही नहीं कर सकता, लेकिन निजी अधिवक्ता लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक को न्यायालय में विचारण की कार्यवाही या अन्य कार्यवाहियों में सहायता प्रदान कर सकता है या उनके निदेशानुसार कोई कार्यवाही कर सकता है। नारायण एम. पेण्डसे² के मामले में धारा 301(2) विशेष रूप से उद्धृत करती है कि किसी अधिवक्ता को एक निजी व्यक्ति द्वारा नियुक्त किया जाता है वह लिखित तर्क या बहस जमा करा सकता है। रेखान ओझा³ के मामले में न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि संहिता की उपरोक्त धारा के शब्दों को पूर्ण रूप से लागू करने की आवश्यकता नहीं है, एक निजी अधिवक्ता मौखिक रूप से भी न्यायालय में अपने तर्क प्रस्तुत कर सकता है। कुलदीप सिंह बनाम पंजाब राज्य⁴ वाले मामले में सरकारी अधिवक्ता ने बचाव पक्ष के साक्षियों की प्रतिपरीक्षा नहीं की, तब शिकायतकर्ता के निजी अधिवक्ता ने साक्षियों की प्रतिपरीक्षा के लिए न्यायालय से अनुमति मांगी जिसे न्यायालय ने यह कहते हुए खारिज कर दिया कि निजी अधिवक्ता साक्षियों की प्रतिपरीक्षा नहीं कर सकता। लोक अभियोजक या सहायक लोक अभियोजक ही प्रतिपरीक्षा कर सकते हैं। निजी अधिवक्ता केवल सरकारी अधिवक्ता के निदेशानुसार कार्य कर सकता है। वह लिखित दलील फाइल करा सकता है। उच्चतम न्यायालय ने भी शिव कुमार बनाम हुकुम चंद⁵ वाले मामले में यह निर्धारित किया कि निजी अधिवक्ता लोक अभियोजक के निर्देश पर तथा उनके नियंत्रण में

¹ (2001) 3 एस. सी. सी. 462.

² (1874) 11 बी. एच. सी. आर. 102.

³ 1988 सी. आर. एल. जे. 278 (कलकत्ता).

⁴ 1996 सी. आर. एल. जे. 1619 (पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय).

⁵ (1999) 7 एस. सी. सी. 467.

(4) क्या आपराधिक मामलों में निजी अधिवक्ता आहत व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कर सकता है

रहते हुए सब कुछ कर सकता है (समा राम बनाम राजस्थान राज्य¹)।

निजी अधिवक्ता के पास किसी भी तरह का “सुने जाने का अधिकार” विधि द्वारा निहित नहीं किया गया है वह केवल लोक अभियोजक की सहायता तथा उसके निर्देश पर ही कार्य कर सकता है (बी. जानकी रमैय्या चेट्टी बनाम ए. के. पार्थसारथी²)।

इसके अतिरिक्त धारा 2(4) तथा धारा 301 का साथ-साथ अध्ययन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि किसी निजी अधिवक्ता को निजी व्यक्ति द्वारा न्यायालय में मामले की पैरवी करने के लिए निदेशित किया जाता है, तब उस अधिवक्ता का कार्य मात्र लोक अभियोजक को मामले के तथ्यों से बारीकी से अवगत कराना अथवा उनकी जानकारी देना ही होता है। ऐसा अधिवक्ता लोक अभियोजक के निर्देश के अनुसार ही विधि अनुसार कार्यवाही में हिस्सा ले सकता है। अभियोजन केवल लोक अभियोजक के द्वारा ही कार्यान्वित होगा। रूप के. शौरी बनाम पंजाब राज्य³ के मामले में माननीय उच्च न्यायालय ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि यदि लोक अभियोजक मामले की पैरवी नहीं कर पाता या अधित्याज्य कर देता है उस परिस्थिति में भी निजी अधिवक्ता साक्षी की परीक्षा या परिपरीक्षा करने का अधिकार नहीं रखता, यहां तक कि वह बहस भी नहीं कर सकता। जब राज्य सरकार किसी मामले की जिम्मेदारी लेती है तब आहत या इत्तिला देने वाले व्यक्ति के अधिकार राज्य के अधीन हो जाते हैं। जनार्दन दास बनाम महादेव प्रसाद⁴ में उच्च न्यायालय ने यह व्यवस्था दी कि धारा 301(2) में यह प्रावधान है कि निजी अधिवक्ता लोक अभियोजक के निर्देश पर ही कोई कार्यवाही कर सकता है, स्वतंत्र रूप से नहीं। रेखान ओझा (उपरोक्त) मामले में न्यायालय ने निजी अधिवक्ता को मौखिक बहस करने की अनुमति देते हुए यह सुनिश्चित किया कि ऐसी मौखिक बहस लोक अभियोजक से निर्देश लेते हुए ही की जा सकती है।

यह सच है कि जब राज्य सरकार या उसके लोक अभियोजक का झुकाव अभियुक्त को दंड दिलवाने के लिए पैरवी करने के बजाय अभियुक्त के बचाव में दिखाई पड़ता हो तब आम जनता का विश्वास

¹ 2002 सी. आर. एल. जे. 3134 (राजस्थान).

² 2002 सी. आर. एल. जे. 4062 (आन्ध्र प्रदेश).

³ ए. आई. आर. 1967 पंजाब 42.

⁴ ए. आई. आर. 1949 इलाहाबाद 201.

लोक अभियोजक में कम हो जाएगा तथा निजी व्यक्ति अपना अधिवक्ता नियुक्त करने की बात सोचेगा (जाहिरा हबीबुल्ला एस. शेख बनाम गुजरात राज्य¹ तथा बेस्ट बेकरी मामले²)। यह मांग कि निजी अधिवक्ता को भी स्वतंत्र पैरवी का अधिकार होना चाहिए, इन ही सभी मामलों की बात जोरों से उठने लगी है। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने ठाकुर राम बनाम बिहार राज्य³ वाले मामले में पूर्व में यह निर्धारित कर दिया कि “सुने जाने का अधिकार” विधि द्वारा निजी अधिवक्ता को धारा 301 में नहीं दिया गया है। लेकिन अरुणाचलम बनाम पी. एस. आर. सदानाथम⁴ वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 136 के अन्तर्गत निजी पक्षकार के हस्तक्षेप करने पर उच्च न्यायालय द्वारा किसी अभियुक्त को दोषमुक्त किए जाने के आदेश के विरुद्ध अपील में उच्चतम न्यायालय विधि अनुसार सुनवाई करता है। लेकिन यह परिस्थिति धारा 301 से भिन्न है। माने सुब्बाराव बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य⁵ वाले मामले में मुख्य विवाद्यक यह था कि यदि राज्य किसी निर्णय के विरुद्ध अपील नहीं करना चाहता है तब क्या आहत व्यक्ति, इत्तिला देने वाला या अन्य कोई व्यक्ति अपील कर सकता है? न्यायालय ने कहा है कि ऐसा कोई कानून नहीं है जो इस बात की अनुमति देता हो। लेकिन आपराधिक न्याय व्यवस्था इस तथ्य का समर्थन करती है कि किसी के प्रति अन्याय होने का यह अर्थ होगा कि प्रत्येक के प्रति अन्याय हुआ है। न्याय की अवहेलना उस समय हो जाएगी जब गलती करने वाले को कोई दंड नहीं मिलेगा। न्याय पाने के द्वार हर व्यक्ति के लिए खुले हों चाहे वह स्वयं आहत हो या कोई अन्य। यही लोकतंत्र की मांग है और यही उपचारी विधिशास्त्र कहता है कि न्याय हर व्यक्ति को मिलना चाहिए भले ही वह स्वयं आहत हो या लोकहित वाद के माध्यम से न्याय की गुहार अन्य व्यक्तियों के लिए कर रहा हो।

¹ (2004) 4 एस. सी. सी. 158.

² (2004) 5 एस. सी. सी. 353.

³ ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 911.

⁴ (1979) 2 एस. सी. सी. 297.

⁵ (1980) 3 एस. सी. सी. 140.